

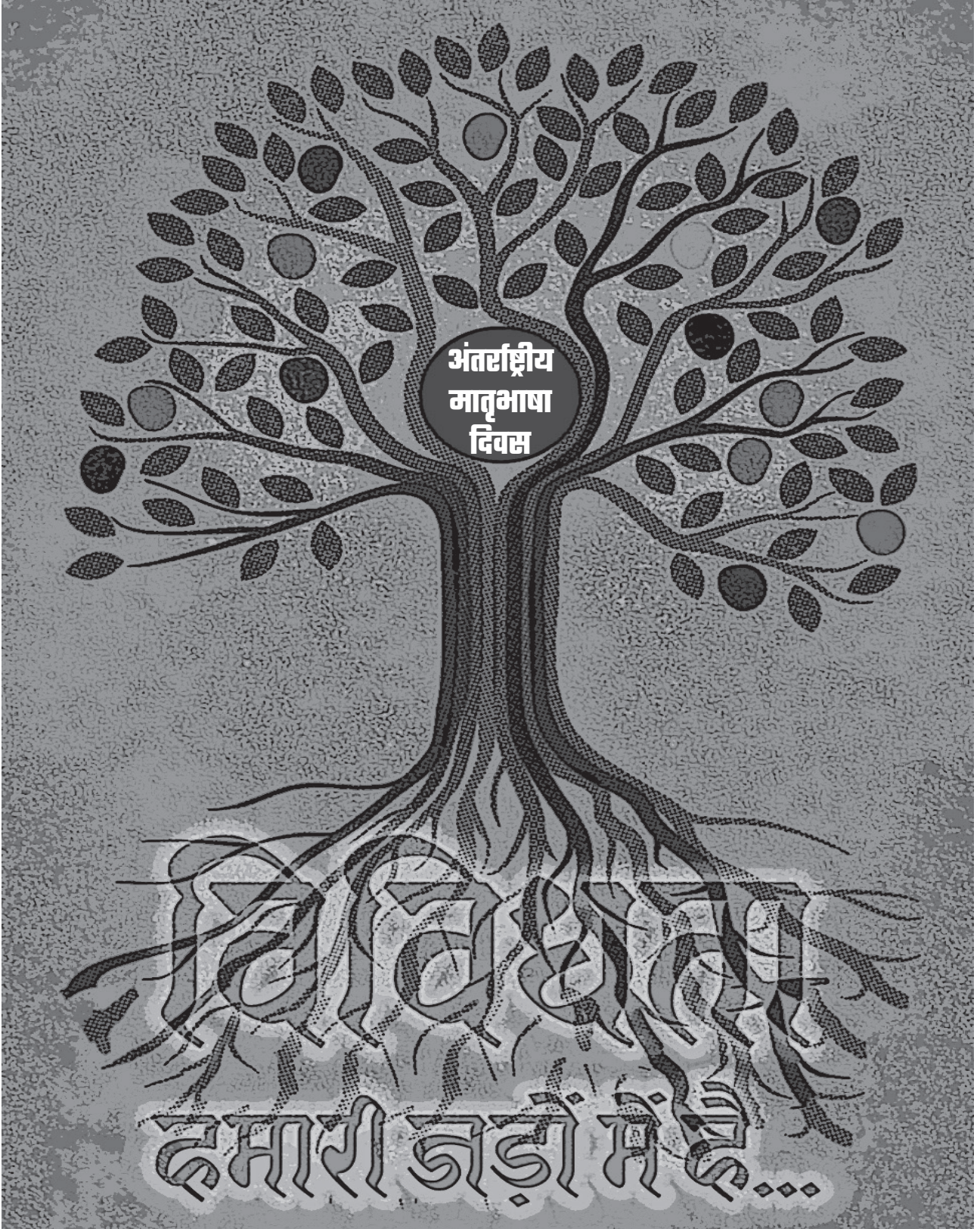
समरथ

जनवरी-मार्च, ♦ 2024, नई दिल्ली



विविधता में एकता का अर्थ यह नहीं है कि आप विविधता को मिटा सकते हैं। इसका मतलब यह भी नहीं हो सकता कि आप विविधता को मिटाकर एकता हासिल कर लेंगे।

के.एम.जोसेफ
सुप्रीम कोर्ट के पूर्व जस्टिस



नाहि तो जनम नसाई

बात कुछ ज्यादा पुरानी नहीं, कुछ दहाईयों पहले की है जब भारत की गिनती विश्व के अत्यंत निर्धन देशों में होती थी। आज की पीढ़ी को शायद यह विश्वास न हो कि अमरीका, ब्रितानिया और कुछ अन्य देशों से भारत को आर्थिक सहायता मिलती थी। मगर इसके बाद हमारी सरकारों के अनथक प्रयास, उनकी आर्थिक नीतियों और गरीबी उन्मूलन कार्यक्रमों के नतीजे में हालात बदलना शुरू हुए और देश धीरे-धीरे विकास के मार्ग पर चल निकला। जिसके परिणाम आज हमारे सामने हैं और आज हम विश्व की पाँचवीं सबसे बड़ी अर्थव्यवस्था कहलाते हैं। विकास का यह दृश्य कोई काल्पनिक नहीं बल्कि हमें हर ओर दिखाई देता है। आधारभूत ढाँचे, विज्ञान और प्रौद्योगिकी, आईटी सेक्टर, शिक्षा, कृषि, विश्वविद्यालय, उच्च शैक्षिक संस्थान, अस्पताल, स्वास्थ्य सेवाएं, निर्यात आदि हर क्षेत्र में देश के विकास की तस्वीर साफ नज़र आती है। यही नहीं विश्व के सबसे धनी लोगों की सूची में हमारे उद्योगपति भी नुमाया तौर पर नज़र आते हैं। एक ताज़ा रिपोर्ट के अनुसार 2023 में हमारे मुल्क में 94 लोग नए अरबपति बने जिसके साथ भारतीय अरबपतियों की संख्या बढ़कर 271 हो गई। मुंबई और दिल्ली दो ऐसे नगर हैं जहाँ इन अरबपति लोगों की संख्या में तेजी से वृद्धि हो रही है और मुंबई तो इस दृष्टि से विश्व में प्रथम है।

इसी पृष्ठभूमि में पेरिस स्थित एक शोध संस्था World Inequality Lab ने कुछ आँकड़ों के आधार पर अपनी एक रिपोर्ट में यह विचार व्यक्त किया है कि भारत में 2000 के आरंभ से अब तक आय और संपत्ति की दृष्टि से आर्थिक असमानता में बेतहाशा बढ़ोत्तरी हुई है और इस पूरे काल को इस रिपोर्ट में अरबपति राज की संज्ञा दी गई है जिसमें ब्रिटिश राज की तुलना में कहीं ज्यादा असमानता पाई जाती है। रिपोर्ट के अनुसार 2022-23 में भारत की राष्ट्रीय आय का 22.6 फीसद भाग शीर्ष के सिर्फ एक प्रतिशत लोगों के हिस्से में आया, जो इस रिपोर्ट की दृष्टि में 1922 के बाद से अब तक सबसे ज्यादा है। शीर्ष के 10 प्रतिशत अरबपतियों का इस आय में हिस्सा 60 फीसद रिकॉर्ड किया गया, जो निश्चित रूप से बहुत अधिक है। इस तरह यह रिपोर्ट हमें यह बताती है कि देश में अमीरों और गरीबों के बीच असमानता की खाई बढ़ती जा रही है। दूसरी ओर आँकड़ों के आधार पर ही देश के कुछ शीर्ष अर्थशास्त्रियों ने इसके विपरीत राय दी है और यह सिद्ध करने की कोशिश की है कि 2010-11 और 2022-23 के बीच शहरी और ग्रामीण दोनों क्षेत्रों में आर्थिक असमानताओं में जबरदस्त कमी आई है।

आर्थिक असमानता के बारे में दो परस्पर विरोधी दृष्टिकोण के कारण ज़रूरत इस बात की है कि सभी मुहैया आँकड़ों का गहन अध्ययन और विश्लेषण किया जाए और उसके बाद ही कोई राय बनाई जाए, क्योंकि अगर पेरिस स्थित संस्था की रिपोर्ट में कुछ भी सच्चाई है तो यह चीज हमारे भविष्य के लिए कोई अच्छा शगुन नहीं है और यदि हमने 2047 तक अर्थात् आज़ादी के 100 वर्ष पूरे होने तक विश्व की तीसरी सबसे बड़ी अर्थव्यवस्था बनने और भारत को एक विकसित देश बनाने का ख्वाब देखा है तो फिर हमें आय और संपत्ति के न्यायपूर्ण आवंटन को सुनिश्चित करना होगा और अपनी प्रति व्यक्ति आय को विकसित देशों की सतह पर लाना होगा। जिससे कि रोजगार, शिक्षा, स्वास्थ्य, आवास, पीने का साफ पानी और पोषण जैसी बुनियादी आवश्यकताओं तक हर नागरिक की पहुँच उसके लिए असंभव न हो।

क्या तुम जानते हो?

-निर्मला पुतुल-

क्या तुम जानते हो
पुरुष से भिन्न
एक स्त्री का एकांत?

घर, प्रेम और जाति से अलग
एक स्त्री को उसकी अपनी ज़मीन
के बारे में बता सकते हो तुम?

बता सकते हो
सदियों से अपना घर तलाशती
एक बेचैन स्त्री को
उसके घर का पता?

क्या तुम जानते हो
अपनी कल्पना में
किस तरह एक ही समय में
स्वयं को स्थापित और निर्वासित
करती है एक स्त्री?

सपनों में भागती
एक स्त्री का पीछा करते
कभी देखा है तुमने उसे
रिशतों के कुरुक्षेत्र में
अपने आपसे लड़ते? लड़ते या तड़पते

तन के भूगोल से परे
एक स्त्री के
मन की गाँठें खोल कर
कभी पढ़ा है तुमने
उसके भीतर का खौलता इतिहास?

पढ़ा है कभी
उसकी चुप्पी की दहलीज़ पर बैठ
शब्दों की प्रतीक्षा में उसके चेहरे को?

उसके अंदर वंशबीज बाते
क्या तुमने कभी महसूस है
उसकी फैलती जड़ों को अपने भीतर?

क्या तुम जानते हो
एक स्त्री के समस्त रिश्ते का व्याकरण?

बता सकते हो तुम
एक स्त्री को स्त्री-दृष्टि से देखते
उसके स्त्रीत्व की परिभाषा?

अगर नहीं!
तो फिर जानते क्या हो तुम
रसोई और बिस्तर के गणित से परे
एक स्त्री के बारे में...?

साभार : नगाड़े की तरह बजते शब्द से साभार

अन्ना मणि : भारत की वह महिला वैज्ञानिक, जिनकी वजह से मौसम का अंदाजा लगाना हुआ आसान

प्रीति टॉक



भारत में महिला वैज्ञानिकों का नाम लेते ही हम सभी, भारत के बहुचर्चित Mars Orbiter Mission की टीम की सदस्या रहीं महिला वैज्ञानिकों को याद करते हैं। लेकिन हममें से कम ही लोग जानते हैं कि इस मिशन से सालों पहले, भारत की एक महिला वैज्ञानिक ने मौसम विज्ञान से जुड़ी ऐसी बेहतरीन खोज की थी, जिसकी वजह से आज हम मौसम का इतना सटीक अनुमान लगा पाते हैं।

‘भारत की मौसम महिला’ अन्ना मणि को आज पूरा विश्व याद करता है। उनका नाम और उनके काम देश ही नहीं, बल्कि दुनिया के लिए अहम है। अन्ना मणि, भारतीय मौसम विभाग की पूर्व उप महानिदेशक थीं और उन्होंने सोलर रेडिएशन, ओजोन और पवन ऊर्जा उपकरण के क्षेत्र में अपने बेहतरीन काम से कई वैज्ञानिकों का काम आसान बना दिया। मौसम पर नज़र बनाए रखने और सही अनुमान लगाने वाले उपकरणों को डिज़ाइन करने में उन्होंने अहम भूमिका निभाई है। आज मौसम का पूर्वानुमान लगाना अगर संभव हो पाया है, तो सिर्फ अन्ना मणि की वजह से ही।

अन्ना मणि का जन्म 23 अगस्त, 1918 को केरल के पीरूमेडू में हुआ था। उनके पिता एक सिविल इंजीनियर थे। एक संपन्न परिवार में जन्मी मणि जब छोटी थीं, तब उन्होंने एक डांसर बनने का सपना देखा था। लेकिन तब डांस को करियर के तौर पर नहीं देखा जाता था और उनका परिवार चाहता था कि वह पढ़ाई करके कुछ अच्छा करें, अपना करियर बनाएं, जिसके बाद उन्होंने भौतिकी में करियर बनाने का फैसला किया।

साल 1939 में उन्होंने मद्रास के प्रेसिडेंसी कॉलेज से भौतिक और रसायन विज्ञान में ग्रेजुएशन की डिग्री हासिल की और 1940

में भारतीय विज्ञान संस्थान, बेंगलूर में रिसर्च के लिए स्कॉलरशिप हासिल की। इस दौरान, उन्होंने प्रो. सी.वी. रमन के अधीन काम करते हुए रूबी और हीरे के ऑप्टिकल गुणों पर रिसर्च की और भौतिकी में आगे की पढ़ाई के लिए 1945 में लंदन के इंपीरियल कॉलेज चली गईं।

लंदन में ही उन्होंने मौसम संबंधी उपकरणों के बारे में ज्यादा पढ़ना शुरू किया। ग्रेजुएशन के बाद उन्होंने पांच शोध पत्र लिखे और अपना पीएचडी रिसर्च पेपर तैयार किया, लेकिन उन्हें पीएचडी की डिग्री नहीं मिली, क्योंकि उनके पास भौतिकी में पोस्ट ग्रेजुएशन की डिग्री नहीं थी। देश की आज़ादी के बाद 1948 में वह लंदन से भारत लौटीं और पुणे के मौसम विभाग में काम करना शुरू किया।

1969 में अन्ना मणि को विभाग का उप महानिदेशक बना दिया गया। उन्होंने बंगलुरु में अपनी एक वर्कशॉप भी बनाई थी, जहां वह हवा की गति और सौर ऊर्जा को मापने का काम करती थीं। भारत आकर वह गांधीवादी विचारधारा से काफी प्रभावित हुईं, जिसके बाद उन्होंने पूरी जिंदगी गांधी जी के मूल्यों पर ही चलने का फैसला किया। यही कारण था कि वह ज्यादातर खादी के कपड़े ही पहनती थीं।

1976 में वह भारतीय मौसम विभाग के उप-निदेशक पद से रिटायर हुईं। उन्हें साल 1987 में INSA के आर रामनाथन मेडल से सम्मानित किया गया। 16 अगस्त 2001 को तिरुवनंतपुरम में इस महान वैज्ञानिक का निधन हो गया। उन्होंने इतनी पढ़ाई और इतने रिसर्च उस दौर में किए, जब भारत में महिलाओं का शिक्षण दर मात्र एक प्रतिशत था। लेकिन उनके बेहतरीन रिसर्च आज भी आम लोगों के जीवन को बेहतर बनाने में मददगार साबित हो रहे हैं।

साभार : hindi.thebetterindia.com

अवाबाई वाडिया : भारत में परिवार नियोजन की नींव रखने वाली बेबाक वकील साहिबा

अर्चना दूबे

“

1940 के दशक के अंत में जब परिवार नियोजन दुनिया भर में एक ऐसा विषय था, जिस पर बात तक करना एक अपराध की तरह माना जाता था, उस समय पद्म श्री अवाबाई वाडिया ने इस क्षेत्र में काम करना शुरू किया।

दुनियाभर में काफी लंबे समय से एक बड़ी चिंता और चर्चा का विषय रही है, 'आबादी'। भारत और दुनिया के अन्य देशों में बढ़ती आबादी को रोकने के लिए कई बार ठोस कदम उठाने की कोशिश की गई। साथ ही भारत के इतिहास में भी कई ऐसे लोग हुए, जिन्होंने इस क्षेत्र में काम किया। उन्हीं नामों में एक नाम शामिल है, 'पद्म श्री अवाबाई वाडिया' का।



18 सितंबर 1913 को कोलंबो के एक प्रगतिशील पारसी परिवार में जन्मी अवाबाई वाडिया के पिता दोशबजी मुंचेरजी एक शिपिंग अधिकारी थे और उनकी माँ पिरोजबाई अर्सेवाला मेहता गृहिणी थीं। 19 साल की उम्र में अवाबाई वाडिया यूनाइटेड किंगडम में 'बार परीक्षा' पास करने वाली सीलोन (अब श्रीलंका) की पहली महिला बनीं। उनकी सफलता ने सीलोन सरकार को महिलाओं को देश में कानून की पढ़ाई करने की अनुमति देने के लिए मजबूर कर दिया।

यह अकेला मौका नहीं था, जब वाडिया ने महिलाओं के अधिकारों पर सरकारी नीतियों को बढ़ावा दिया। वकालत की डिग्री हासिल करने के बाद, उन्होंने लैंगिक भेदभाव के बावजूद लंदन और कोलंबो दोनों जगहों पर काम किया।

द्वितीय विश्व युद्ध के दौरान वह बॉम्बे (अब मुंबई) आ गईं और खुद को सामाजिक कार्यों में लगा दिया, लेकिन उनके काम को असली पहचान तब मिली, जब उन्होंने परिवार नियोजन पर काम करना शुरू किया। 1940 के दशक के अंत में जब उन्होंने इस क्षेत्र में काम करना शुरू किया, तो परिवार नियोजन दुनियाभर में एक ऐसा विषय था,

जिस पर बात तक करना एक अपराध की तरह माना जाता था।

अवाबाई वाडिया ने खुद कई बार गर्भपात का किया सामना—पद्म श्री अवाबाई ने अपनी आत्मकथा 'द लाइट इज़ आवर' में लिखा, "मैं बॉम्बे में एक महिला डॉक्टर से बहुत प्रभावित हुई, जिन्होंने कहा कि माजूदा समय में महिलाएं गर्भावस्था और स्तनपान के बीच तब तक झूलती रहती हैं, जब तक उनकी मृत्यु नहीं हो जाती।"

बस यही वह समय था, जब सामाजिक बहिष्कार के खतरे के बावजूद, वाडिया इस मुद्दे में खो सी गईं और परिवार नियोजन की दिशा में काम करने का फैसला लिया।

अवाबाई ने 26 अप्रैल 1946 को बोमनजी खुरशेदजी वाडिया से शादी की। 1949 में, उन्होंने फैमिली प्लानिंग

एसोसिएशन ऑफ इंडिया (FPAI) की स्थापना में मदद की और 34 सालों तक इसका नेतृत्व किया। एफपीएआई का काम गर्भनिरोधक विधियों को बढ़ावा देने से लेकर प्रजनन सेवाएं प्रदान करने तक था।

इस काम ने वाडिया को एक संतुष्टि का एहसास कराया। क्योंकि अवाबाई 1952 में माँ बनने वाली थीं, लेकिन उनका गर्भपात हो गया और इसके साथ ही अवाबाई के उनके पति के साथ रिश्ते ने भी दम तोड़ दिया था। हालांकि, उनका कानूनी तौर पर तलाक़ नहीं हुआ था, लेकिन वे दोनों फिर कभी साथ नहीं रहे।

यह वाडिया के प्रयासों का ही नतीजा था कि भारत सरकार, 1951-52 में परिवार नियोजन नीतियों को आधिकारिक रूप से बढ़ावा देने वाली दुनिया की पहली सरकार बन गई।

वाडिया के तहत, एफपीएआई ने भारत के कुछ सबसे गरीब क्षेत्रों के लोगों के साथ काम करते हुए एक समुदाय-आधारित दृष्टिकोण अपनाया। उनका मानना था कि कुछ भी करो, लेकिन परिवार नियोजन तो होना ही चाहिए। FPAI ने लोगों तक अपनी पकड़ मजबूत करने के लिए, काफी बड़ी संख्या में पेड़ लगाकर जंगल तैयार करने से लेकर सड़क निर्माण तक की परियोजनाएं शुरू कीं।

एक गलती ने पूरे कार्यक्रम को कर दिया बदनाम—

एफपीएआई की नई कार्यशैली ने जनता के विश्वास को बढ़ावा दिया और इसका परिणाम यह रहा कि कर्नाटक के मलूर में 1970 के दशक में शुरू हुई एक परियोजना के परिणामस्वरूप शिशु मृत्यु दर में कमी आई। विवाह की औसत आयु को बढ़ाया गया और साक्षरता दर दोगुनी हो गई। परियोजना को इतना लोकप्रिय समर्थन मिला कि एफपीएआई एक बार जहां से काम करके हटती थी, वहां ग्रामीण इसके आगे का काम अपने हाथों में ले लिया करते थे। वाडिया हमेशा इस पक्ष में रहीं कि परिवार नियोजन ज़बरदस्ती किसी पर थोपा न जाए, बल्कि लोग अपनी मर्जी से इसे अपनाएं। वाडिया और उनकी संस्था के प्रयासों के कारण परिवार नियोजन के अच्छे परिणाम दिखने लगे थे, लेकिन 1975-77 के दौरान इसे लोगों पर ज़बरदस्ती थोपे जाने के कारण यह पूरा कार्यक्रम बदनाम हो गया।

1980 के दशक की शुरुआत में, वाडिया को आईपीपीएफ के अध्यक्ष के रूप में एक और विकट चुनौती का सामना करना पड़ा। तत्कालीन अमेरिकी राष्ट्रपति रोनाल्ड रीगन ने ऐसे किसी भी

संगठन की फंडिंग में कटौती की, जो गर्भपात सेवाएं प्रदान करता है या उसका समर्थन करता है।

हालांकि, आईपीपीएफ ने आधिकारिक तौर पर गर्भपात को कभी बढ़ावा नहीं दिया, लेकिन इसके कुछ सहयोगियों ने उन देशों में गर्भपात सेवाएं प्रदान कीं, जहां यह कानूनी था। IPPF ने इस व्यवस्था को बदलने के लिए अमेरिकी दबाव में आने से इनकार कर दिया और इसका नतीजा यह हुआ कि उनके कार्यक्रमों को \$17m का नुकसान हुआ।

साल 2000 में जब महाराष्ट्र राज्य में दो बच्चों के मानदंड को लागू करने के लिए, राशन और मुफ्त प्राथमिक शिक्षा का लाभ तीसरे बच्चे को न देने की बात हुई, तो अवाबाई ने कहा, “हम उन नियमों का समर्थन नहीं कर सकते हैं, जो बुनियादी मानवाधिकारों को छीनने की बात करते हों। वैसे भी, हमने देखा है कि लोगों को हतोत्साहित या निराश करके किसी भी काम में सफलता नहीं मिल सकती।”

इन घटनाओं ने यह तो तय कर दिया कि परिवार नियोजन आंतरिक रूप से कानून और राजनीति से जुड़ा हुआ है। शायद यह संयोग ही था कि भारत में एक ऐसी महिला वकील हुई, जो परिवार नियोजन आंदोलन के प्रमुख वास्तुकारों में से एक थीं। वाडिया का करियर इस बात की याद दिलाता है कि परिवार नियोजन को समग्र सामाजिक आर्थिक विकास से अलग नहीं किया जा सकता है।

उन्होंने अपनी आत्मकथा में लिखा है, “ऐसा लगता है कि मुझे जीवन में क्या करना है, इसकी तलाश मैंने नहीं की, बल्कि मेरा काम खुद मेरे पास चलकर आया। अपने कानूनी करियर को ज्यादा समय तक जारी न रख पाने का मुझे कोई अफसोस नहीं रहा, क्योंकि मैंने अपने जीवन में आगे जो भी काम किए, उसमें कानून एक मजबूत फेक्टर था।”

अवाबाई वाडिया को उनके कार्यों के लिए साल 1971 में पद्म श्री पुरस्कार से सम्मानित किया गया। साल 2005 में जब उनकी मृत्यु हुई, तब तक वह परिवार नियोजन आंदोलन के कारण विश्व स्तर पर सम्मानित महिला बन चुकी थीं। उनके कार्यों में महिलाओं के उत्थान के प्रति समर्पण और एक वकील की कुशाग्रता का बेहतरीन संगम देखने को मिलता है।

साभार : <https://www.bbc.com/>

भारत की पहली महिला समाचार वाचिका और उर्दू प्रसारण की अग्रणी सईदा बानो

अभिजीत सेन गुप्ता



कभी-कभी हम सामान्य पुरुषों और महिलाओं की कहानियाँ सुनते हैं जो सफलता प्राप्त करने के लिए बड़ी प्रतिकूलताओं पर विजय प्राप्त करते हैं। ऐसी ही एक कहानी भोपाल की महिला सईदा बानो की है, जिन्होंने कई सामाजिक दबावों को पार करते हुए रेडियो पर भारत की पहली महिला समाचार वाचक बनीं। वह उर्दू में खबरें पढ़ती थीं। बाद में उन्हें उर्दू प्रसारण की अग्रणी के रूप में प्रतिष्ठित किया जाने लगा। उन्होंने यह सब उस समय हासिल किया जब बीबीसी के पास भी कोई महिला समाचार वाचक नहीं थी। एक कठिन शुरुआत से उबरने के बाद, उन्होंने एक लंबा और सफल करियर स्थापित किया, जिसके दौरान उन्होंने प्रधान मंत्री जवाहरलाल नेहरू, फिल्म सितारों और खेल चैंपियनों के साथ कंधे से कंधा मिलाकर काम किया। उनके रेडियो कार्यक्रम बेहद लोकप्रिय हुए और उनकी आवाज पूरे भारत में सुनी गई।

आजकल, जब भारतीय महिलाएं हर दिन नए मुकाम हासिल कर रही हैं, सईदा बानो की उपलब्धि कोई असाधारण उपलब्धि नहीं लगती। लेकिन 1940 के दशक में एक प्रतिष्ठित परिवार और रूढ़िवादी मुस्लिम पृष्ठभूमि की महिला के लिए सार्वजनिक क्षेत्र में काम करना बेहद असामान्य था।

जब वह किशोरी थीं, तो उनकी इच्छा के विरुद्ध, उनके माता-पिता ने उनकी शादी अब्बास रजा से कर दी, जो एक प्रसिद्ध और अत्यधिक सम्मानित न्यायाधीश थे। लेकिन सईदा एक गृहिणी के बंधन में बंधना नहीं चाहती थीं। दंपति के बीच मतभेद अपूरणीय हो गए और वे 1947 में अलग हो गए।

इस स्तर पर सईदा को अपनी महत्वाकांक्षाओं को त्यागने के लिए अपने ही परिवार और रिश्तेदारों से भारी दबाव का सामना

करना पड़ रहा था। इसके अलावा उसके दो बेटे भी थे। लेकिन वह सभी बाधाओं को पार करने के लिए कृतसंकल्प थी। उसे चुनौतियों से निपटना और रूढ़ियों को नकारना पसंद था। जब सईदा ने पाया कि मुश्किलें और सामाजिक दबाव उसके खिलाफ बढ़ रहे हैं, तो उसने नौकरी ढूँढने में सहायता के लिए प्रधान मंत्री जवाहरलाल नेहरू की बहन विजया लक्ष्मी पंडित से संपर्क किया। सईदा की काबिलियत और विजय लक्ष्मी पंडित की सहायता से उन्हें ऑल इंडिया रेडियो में समाचार वाचक की नौकरी मिल गयी।

उन्होंने अपना काम स्वतंत्रता दिवस से दो दिन पहले 13 अगस्त 1947 को शुरू किया। इतिहास में पहली बार एक महिला की आवाज के साथ श्रोताओं का अभिवादन करते हुए दिन की शुरुआत हुई। उनकी आवाज की तानवाला गुणवत्ता की बहुत सराहना की गई। बाद में द स्टेट्समैन अखबार ने उनकी पहल की सराहना करते हुए एक लेख लिखा। फिर अन्य शो भी उन्हें प्रदर्शित करना चाहते थे।

लेकिन यह सब सहज नहीं चल रहा था। इस दौरान देश में बड़े पैमाने पर सांप्रदायिक हिंसा देखी गई और भावनाएं चरम पर थीं। बानो को कुछ श्रोताओं के पत्र मिले जिनमें मांग की गई कि वह पाकिस्तान चली जाएं। दुर्व्यवहार और अपमान ने उसे उसकी नौकरी में वैसे ही परेशान किया जैसे उसके जीवन में किया था। लेकिन वह बहादुरी से आगे बढ़ीं और एक सफल करियर बनाया। उन्हें आकाशवाणी की उर्दू भाषा सेवाओं का निर्माता नियुक्त किया गया और वह एक प्रसिद्ध हस्ती बन गईं। यह उनकी सफलता थी जिसने उनके नक्शेकदम पर चलने वाली कई महिलाओं के लिए मार्ग प्रशस्त किया।

साभार : <https://www.siasat.com>

रानी राशमोनी : एक बंगाली विधवा महिला जिसने अकेले दी थी ईस्ट इंडिया कंपनी को मात

संघप्रिया मोर्य



अगर हम इतिहास के पन्नों को खंगाले तो पता चलेगा कि भारतीय महिलाएं हमेशा से सामाजिक परिवर्तन का हिस्सा रही हैं। उन्होंने महत्वपूर्ण आंदोलनों का नेतृत्व किया और समाज की बुराईयों के खिलाफ आवाज़ उठाती रहीं। लेकिन उनके योगदान को बड़ी ही आसानी से भुला दिया गया।

ऐसी ही एक भूली-बिसरी नायिका हैं, रानी राशमोनी एक ऐसी रानी जो वास्तव में रानी नहीं थीं, लेकिन फिर भी लोगों के दिलों पर इस हद तक राज करती थीं कि उन्हें सम्मान से आज भी रानी के रूप में ही याद किया जाता है।

ईस्ट इंडिया कंपनी के सामने निडरता के साथ खड़े होने से लेकर, दक्षिणेश्वर काली मंदिर की स्थापना तक राशमोनी ने कोलकाता (उस समय कलकत्ता) के इतिहास पर अमिट छाप छोड़ी है।

एक महिला उद्यमी, जो अपने समय से थी बहुत आगे—रानी राशमोनी का जन्म 28 सितंबर 1793 को बंगाल के हालिसहर के छोटे से गांव में एक कैवर्त (मछुआरे समुदाय) परिवार में हुआ था। उनके पिता एक गरीब मजदूर थे। राशमोनी जब अपनी किशोरावस्था में थीं, तो उनकी शादी एक धनी ज़मींदार के वंशज राज दास से कर दी गई।

दास एक प्रगतिशील विचारधारा वाले व्यक्ति थे। उस समय के पढ़े-लिखे और रूढ़ीवादी सोच से परे, दास अपनी पत्नी की बुद्धिमानी से काफ़ी प्रभावित थे। उन्होंने राशमोनी को हमेशा अपने दिल के अनुसार काम करने के लिए प्रेरित किया। साथ ही उन्होंने राशमोनी को अपने ट्रेड बिज़नेस से जोड़ा।

वे दोनों मिलकर अपनी संपत्ति का इस्तेमाल लोगों के कल्याण

के लिए किया करते थे। उन्होंने लोगों के लिए प्याऊ का निर्माण कराया। भूखे लोगों के लिए सूप रसोई बनाई। इस दम्पति ने कोलकाता के दो सबसे पुराने और व्यस्तम घाट अहिरीटोला घाट और सुंदर बाबू राजचंद्र दास घाट, या बाबूघाट का भी निर्माण कराया था।

जब रानी ने संभाली बागडोर, तो विरोधी हुए खुश— सन् 1830 में दास का निधन हो गया। उनकी मौत के बाद रानी ने अपने जीवन के सबसे कठिन समय का सामना किया था। पितृसत्ता से लड़ते हुए और विधवाओं के खिलाफ तत्कालीन प्रचलित सामाजिक मान्यताओं को दरकिनार कर, चार युवा बेटियों की माँ ने पारिवारिक बिज़नेस की बागडोर संभाली। यह उस समय के लिए के लिए बहुत बड़ी बात थी।

जब उनके पति यानी दास के विरोधियों और जान-पहचान वालों ने यह बात सुनी तो वे बड़े खुश हुए। इसलिए नहीं कि रानी ने बिज़नेस की बागडोर अपने हाथ में ले ली, बल्कि इसलिए कि अब वे कंपनी पर आसानी से अधिग्रहण कर पाएंगे। उनकी सोच के अनुसार, एक विधवा महिला ज्यादा समय तक उनके सामने टिक नहीं पाएगी।

लेकिन अपनी बुद्धिमता का परिचय देते हुए राशमोनी ने बिज़नेस को पूरी तरह से संभाल लिया और अपने विरोधियों की उम्मीदों पर पानी फेर दिया था। वह बड़े ही व्यवहारिक तरीके से काम कर रही थीं। उनके इस काम में मथुरा नाथ बिस्वास ने काफ़ी मदद की थी। शिक्षित युवा मथुरानाथ ने राशमोनी की तीसरी बेटी से शादी की थी। मथुरा बाबू (जैसा कि उन्हें कहा जाता था) लेन-देन का सारा काम संभालते थे। वह राशमोनी के विश्वासपात्र थे और हमेशा उनका दाहिना हाथ बनकर काम करते रहे।

सती प्रथा और बाल विवाह का क्रिया विरोध—बाद के कुछ वर्षों में उन्होंने दो महत्वपूर्ण मुद्दों पर अपनी आवाज़ उठाई। एक तरफ वह समाज में मौजूद बाल-विवाह, बहु-विवाह और सती प्रथा जैसी बुराइयों के खिलाफ लड़ाई लड़ रही थीं, तो दूसरी तरफ उन्होंने ईश्वर चंद्र विद्यासागर जैसे अग्रणी समाज सुधारक का समर्थन भी किया। उन्होंने ईस्ट इंडिया कंपनी के सामने बहुविवाह के खिलाफ एक मसौदा विधेयक प्रस्तुत किया था।

रानी राशमोनी ने कोलकाता के पास प्रसिद्ध दक्षिणेश्वर मंदिर भी बनवाया। इसके लिए ब्राह्मणों ने उन्हें काफी भला-बुरा कहा और निचली शूद्र जाति की महिला द्वारा बनाए गए मंदिर में पुजारी बनने से इनकार कर दिया था। तब तमाम विरोधों के बीच आखिरकार, धार्मिक नेता रामकृष्ण परमहंस, मंदिर के मुख्य पुजारी के रूप में काम करने के लिए आगे आए।

मंदिर के निर्माण और व्यावसायिक कौशल ने उन्हें कलकत्ता के प्रशासनिक दायरों में बहुत सम्मान दिया। यह दलितों और गरीबों के लिए काम करने की सोच ही थी, जिसने उन्हें इन लोगों के बीच काफी लोकप्रिय बना दिया था। वह गरीबों के लिए कितना सोचती थीं, इसके लिए उस घटना को जान लेना काफी है, जब उन्होंने संकट में पड़े मछुआरों की मदद करने के लिए अंग्रेजों को अपनी होशियारी से मात दी थी।

जब अंग्रेजों की साजिश का शिकार हुए मछुआरे—सन् 1840 के दशक में ईस्ट इंडिया कंपनी अपना मुनाफा बढ़ाने के लिए अब अपना ध्यान गंगा नदी के लंबे तटों की तरफ लगा रही थी। बंगाल प्रेसिडेंसी से होकर गुजरने वाली यह नदी, मछुआरा समुदाय के लोगों के लिए जीवन रेखा थी। वे अपनी आजीविका के लिए नदी के इन तटों पर निर्भर थे।

यह तर्क देते हुए कि मछुआरों की छोटी नावें, घाट पर बड़ी नावों (फैरी) की आवाजाही में बाधा डाल रही हैं, ईस्ट इंडिया कंपनी ने उनकी नौकाओं पर कर लगा दिया। नदी में मछली पकड़ने की गतिविधियों को कम करते हुए अतिरिक्त राजस्व कमाने का यह अंग्रेजों का एक आसान तरीका था।

अपनी रोजी-रोटी को लेकर परेशान मछुआरे, कुलीन ज़मींदारों के साथ मामला दर्ज कराने के लिए कलकत्ता गए थे। लेकिन उन्हें वहां से कोई समर्थन नहीं मिला। हर तरफ से निराश होने के बाद वे आखिर में राशमोनी के पास पहुंचे। उन्होंने इस बारे में कुछ करने के लिए उनसे अपील की।

हुगली नदी को बांध दिया जंजीरों से—इसके बाद

जो हुआ, उसकी उम्मीद शायद अंग्रेजों ने भी नहीं की होगी। राशमोनी ने 10 हजार रुपये देकर ईस्ट इंडिया कंपनी से हुगली नदी (कलकत्ता से होकर बहने वाली गंगा की डिस्ट्रीब्यूटरी) के दस किलोमीटर के हिस्से के लिए एक इजारा (पट्टा समझौता) हासिल किया। उन्होंने अपने पट्टे वाले क्षेत्र को घेरने के लिए हुगली में लोहे की दो बड़ी जंजीरें लगा दीं और फिर मछुआरों से इस क्षेत्र में मछली पकड़ने के लिए कहा।

राशमोनी की चाल से कंपनी के अधिकारी हतप्रभ थे। उनके इस कदम से हुगली नदी पर जहाजों का जमावड़ा लग गया। जब अधिकारियों ने राशमोनी से स्पष्टीकरण मांगा, तो उन्होंने कहा कि अपनी संपत्ति से होने वाले आमदनी की सुरक्षा के लिए वह ऐसा कर रही हैं। व्यवसायिक स्टीमशिप उसके इजारा में मछली पकड़ने की गतिविधियों को प्रभावित कर रहे हैं।

यह बताने के लिए कि वह ऐसा करने की हकदार हैं, सामंति महिला ने ब्रिटिश कानून का हवाला दिया और साथ ही कहा कि अगर कंपनी ने इस बारे में कुछ और सोचा, तो वह अदालत में इसके खिलाफ लड़ने के लिए तैयार हैं।

लोहे की जंजीरों से बंधे क्षेत्रों के दोनों और नावों के जमा होने के कारण ईस्ट इंडिया कंपनी को राशमोनी के साथ एक समझौता करने के लिए मजबूर होना पड़ा। मछली पकड़ने पर लगाया गया टैक्स खत्म कर दिया गया और मछुआरों के अधिकारों की रक्षा करते हुए गंगा में उनकी आवाजाही पर लगी रोक हटा दी गई।

नदी हमेशा के लिए बन गई 'रानी राशमोनी जल'—राशमोनी ने बड़ी चालकी से ईस्ट इंडिया कंपनी को मात दे दी। एक सदी से भी ज्यादा समय बीत जाने के बाद, साल 1960 में प्रख्यात बंगाली लेखक गौरांग प्रसाद घोष ने इस ऐतिहासिक घटना के एक मात्र अवशेष की तस्वीर खींची थी। यह तस्वीर उस विशाल बड़ी सी खूंटी की थी, जिसे कभी हुगली नदी में जंजीरों को बांधने के लिए इस्तेमाल में लाया गया था। यह खूंटी भले ही लोगों को याद न हो, लेकिन मछुआरे अपनी रानी को कभी नहीं भूले। बंगाली लेखक समरेश बसु ने अपनी किताब 'गंगा' (मूल रूप से 1957 में जन्मभूमि पत्रिका में प्रकाशित) में लिखा था, "नदी हमेशा के लिए 'रानी राशमोनी जल' बन गई।"

साभर : hindi.thebetterindia.com

‘ब्रेस्ट टैक्स’ खत्म करवाने वाली वीरंगना ‘नांगेली’

आस्था सिंह



19वीं सदी की बात है जब मौजूदा जाति व्यवस्था महिलाओं के प्रति बेहद दमनकारी थी और पुरुषों के अहम् को हवा देने के लिए महिलाओं को भेदपन का सामना करना पड़ता था। केरल के त्रावणकोर के शासनकाल में निम्न जाति नायर की महिलाओं को कमर से ऊपर बदन को कपड़े से ढकने का अधिकार नहीं था। यानी उन्हें अपना स्तन खुला ही रखना होता था। ये महिलाएं यदि कपड़े से अपना स्तन ढकती थीं तो उन्हें ब्रेस्ट टैक्स देना होता था। ब्रेस्ट टैक्स, जिसे मूलाकरम कहा जाता था। यह बात और ज्यादा शर्मिंदा करने वाली है कि यह ब्रेस्ट टैक्स महिलाओं के स्तन के आकार के आधार पर लिया जाता था। स्तन का आकार जितना बड़ा, टैक्स उतना ही अधिक। ब्रेस्ट टैक्स महिलाओं के लिए अपमानजनक था क्योंकि इस कारण दूसरों के बीच सम्मानपूर्वक जीने के अधिकार से वंचित थीं। ब्रेस्ट टैक्स उनकी गरिमा और गोपनीयता पर हमला था।

एक बहादुर महिला के विरोध ने जलाई विद्रोह की चिंगारी—नांगेली और उसका पति एक छोटे से तटीय गांव चेरथला में रहते थे। वे खेतिहर मजदूर के रूप में काम करते थे और नारियल के पेड़ों से रस एकत्र करते थे। नांगेली दलित थी, एझावा समुदाय से थी। उसने न केवल अपने लिए बल्कि सभी श्रमिक दलित महिलाओं के लिए आवाज उठाई। उनके विरोध ने उनके क्षेत्र में विद्रोह की चिंगारी जलाने में मदद की। नांगेली ने महसूस किया कि उनके समुदाय के साथ अन्याय हो रहा है। टैक्स के बोझ के कारण उनके पास दिन के अंत में खाने के लिए मुश्किल से मुट्ठी भर चावल का इंतजाम हो पाता था।

आसपास की महिलाओं की स्थिति दिन प्रतिदिन दयनीय होती जा रही थी और नांगेली का अन्यायपूर्ण और अपमानजनक टैक्स के खिलाफ गुस्सा फूट पड़ा। पति से बात की और निर्णय लिया कि किसी न किसी को तो आवाज उठानी ही होगी। पति ने नांगेली के

विरोध में साथ देने का फैसला लिया और अगले ही दिन से नांगेली अपना स्तन ढकने लगी।

एक रूढ़िवादी और दमनकारी ढर्रे का अंजाम—नांगेली का यह कदम सामंतवादी समाज के पुरुषों को उनके मुंह पर करारे तमाचे जैसा था। बात आगे पहुंची और फिर नांगेली और उसके पति से ब्रेस्ट टैक्स की मांग की जाने लगी। एक महीने बाद अधिकारी टैक्स लेने घर आ धमके। नांगेली का स्तन मापा गया। इसके बाद नांगेली घर के भीतर गई और चाकू से अपने दोनों स्तन काट केले के पत्ते पर लेकर बाहर आईं। टैक्स अधिकारी के होश उड़ गए और वे डरकर भाग गए। कुछ देर बाद ही नांगेली की मृत्यु हो गई, लेकिन उनके इस साहसिक कदम ने समाज की अन्य महिलाओं को हिम्मत दी।

26 जुलाई 1859 को राजा के एक आदेश के जरिए महिलाओं के ऊपरी वस्त्र न पहनने के कानून को बदल दिया गया। और इस तरह नांगेली के बलिदान से महिलाओं ने अपना हक छीन कर हासिल किया। अजीब लग सकता है, पर केरल जैसे प्रगतिशील माने जाने वाले राज्य में भी महिलाओं को अंगवस्त्र या ब्लाउज पहनने का हक पाने के लिए 50 साल से ज्यादा सघन संघर्ष करना पड़ा।

नांगेली ने शोषित होने के बावजूद पारंपरिक यौन और सामाजिक मानकों का उल्लंघन किया। उसने अपने शरीर के प्रति समाज की शक्तिहीन सोच को शक्तिशाली प्रतिरोध में बदल दिया। भले ही नांगेली के शरीर को शोषित किया गया हो, लेकिन उसने भावनात्मक रूप से घायल होने को मंजूर नहीं किया। हमारे समाज में अक्सर यह देखा गया है किसी भी सामाजिक विकृति की तरफ हमारी चेतना को जगाने के लिए किसी मासूम को अपने प्राणों की कीमत चुकानी पड़ती है। लेकिन क्या यह सही है?

साभार : www.knocksense.com/

नाडुमुदलईकुलम में 'काम' का दूजा नाम 'औरत'

अपर्णा कार्तिकेयन

“



तमिलनाडु के नाडुमुदलईकुलम गांव की औरतें अगर 2011 की जनगणना के आंकड़ें देखेंगी, तो उसकी खिल्ली उड़ाएंगी। क्योंकि आंकड़ों के अनुसार, कार्यबल में ग्रामीण महिलाओं की भागीदारी का प्रतिशत 30.02 है। पुरुषों के लिए ये आंकड़ा 53.03 प्रतिशत है। लेकिन ज़मीनी स्तर पर देखें, तो वास्तविकता कुछ और है। मदुरई की लगभग हर औरत घर और खेत दोनों जगह घिसती है। घर के काम के पैसे नहीं मिलते और खेतिहर श्रमिक के रूप में महिलाओं को पुरुषों की तुलना में आधी मजदूरी मिलती है। और तो और, महिलाओं को खेत पर सबसे ज़्यादा श्रमसाध्य काम सौंपा जाता है। पुरुष खेत तैयार करने का काम करते हैं। पारंपरिक तौर पर इस काम के अच्छे पैसे मिलते हैं। इसके अलावा, ये काम अब काफ़ी हद तक मशीनी हो चुका है। लेकिन बुवाई से लेकर खरपतवार चुनने का काम, ज़्यादातर

औरतें ही करती हैं - और इस काम से उनकी कमर, पैरों और हाथों पर बहुत ज़्यादा ज़ोर पड़ता है।

पोदुमणी अपने पति सी. जयबल (जो एक किसान होने के साथ-साथ तैराकी के कोच हैं) के साथ मिलकर अपने 3.5 एकड़ की ज़मीन पर खेती करती हैं, और उसके अलावा दूसरों के खेतों में मजदूर के तौर पर काम करती हैं। दूसरे काम से वह कुछ पैसे कमा लेती हैं। चार घंटे (सुबह 8 बजे से दोपहर 12 बजे तक) तक मजदूरी करने पर उन्हें सौ रुपए मिलते हैं। पोदुमणी की सुबह की दिनचर्या बेहद कठिन है। तड़के 5 बजे से उठकर वह खाना बनाती हैं, घर की सफ़ाई करती हैं और स्कूल जाने वाले अपने बेटों का टिफिन तैयार करती हैं। और फिर खेतों तक जल्दी पहुंचने के लिए वह कमर भर पानी तक की गहराई वाले कम्मा (तालाब) से होकर जाती हैं, जो

वहां तक पहुंचने का सबसे छोटा रास्ता है। उसके बाद, वह अपने खेतों में सिंचाई, बुवाई, खरपतवार नॉचने या कटाई करने का काम करती हैं। फिर जल्दी से दोपहर का खाना खाकर वह गायों, बकरियों और गौशाले की देखभाल की करती हैं। फिर वह खाना पकाती हैं। ये सब बताते हुए उनके चेहरे पर मद्धम सी मुस्कान है। और जब उनके पति उनकी कड़ी मेहनत की सराहना करते हैं, तो उनकी यह मुस्कान चौड़ी हो जाती है। दोनों ये चाहते हैं कि उनके बेटे पढ़ाई करें और बड़े होकर खेतों में काम करने के बजाय किसी दफ्तर में काम करें। वह बताती हैं, “मैं तो कभी स्कूल नहीं जा पाई।” उनकी आंखें भर आती हैं और वह दूसरी तरफ देखने लगती हैं।

लोगमणी इलावरसन अपनी बेटी शोभना को खाना खिला रही हैं। उन्होंने भात और सांभर पकाया है। उनकी चार साल की बेटी उतावलेपन के साथ अपना मुंह खोलती है। वह कभी-कभार ही अपनी मां के हाथों खाना खाती है। क्योंकि इसके लिए उसकी मां के पास समय नहीं होता। लोगमणी के दो बड़े बच्चे भी हैं। वह अपने और दूसरों के खेतों में अपनी क्षमता से कहीं ज्यादा काम करती हैं। अपने बच्चों को स्कूल भेजकर वह अपने घर से 8 बजे निकलती हैं। उनके लौटकर आने तक वह भी बाहर ही होती हैं। जब उनके बच्चे बहुत छोटे थे, तो वह उन्हें अपने साथ लेकर धान के खेतों में काम करने जाती थीं। “पहले मैं उन्हें पेड़ों से बंधे कपड़ों के पालने में लिटा देती थी। और जब वे आठ महीने के हो गए, तो वे खेतों की मेड़ों पर बैठकर खेलते थे।” प्रसव होने तक महिलाएं खेतों में काम करती हैं। और आमतौर पर बच्चा होने के सिर्फ एक महीने के बाद ही वे काम पर लौट आती हैं। लोगमणी (29) बताती हैं, “हमारे लिए बस सरकारी अस्पताल हैं, हमारे बच्चों के लिए सरकारी स्कूल हैं। किसी भी निजी संस्थान का खर्च तो हम उठा ही नहीं सकते।” वह हर रोज आंख खुलने से लेकर रात में सोने तक हर घंटे बस काम ही करती हैं।

नागवल्ली तिरुनावकरसु अपनी शादी के बारे में अफ़सोस के साथ बात करती हैं, “जब मैं 14 की थी, तो ये 30 के थे। अगर मुझे थोड़ी समझ होती...” बीस साल बाद, वह अपने तीन बच्चों, गायों और खेतिहर मज़दूरी के काम में पूरी तरह घिस चुकी हैं। उनके पति गाड़ियों में सामान लादने का काम करते हैं, और हर रोज 150 रुपए कमाते हैं। अपने काम के लिए उन्हें वहां से 25 किमी दूर मदुरई शहर जाना पड़ता है। खेतिहर मज़दूर के रूप में नागवल्ली प्रति दिन 100 रुपए की दिहाड़ी पर काम करती हैं और जब मनरेगा के तहत उन्हें कोई काम मिलता है, तो उन्हें प्रति दिन 140 रुपए की मज़दूरी मिलती है। दोनों की मिली-जुली कमाई से वे परिवार के सिर्फ रोजाना के खर्च उठा पाते हैं। वह दृढ़ता से कहती हैं, “मैं अपनी बेटियों के लिए कुछ अच्छा

करना चाहती हूँ। उन्हें पढ़ना चाहिए, उनकी शादी कम उम्र में नहीं होनी चाहिए।” उनकी सबसे बड़ी बेटी बीए (अंग्रेज़ी) द्वितीय वर्ष की छात्र है। नागवल्ली बड़े गर्व से बताती हैं कि उनकी बेटी शिक्षक बनना चाहती है। छोटी बेटी कॉमर्स के साथ दसवीं की पढ़ाई कर रही है। उनका बेटा उनकी सबसे छोटी संतान है, जो अभी आठवीं में पढ़ रहा है। “केवल वही है जो खेतों में हमारी मदद करने में कोई दिलचस्पी नहीं दिखाता। लड़कियां आती हैं। कम से कम जब मैं बुलाती हूँ तो।”

ओचम्मा गोपाल गांव के कुछ उन चुनिंदा लोगों में से हैं जिनके पास बहुत सारी ज़मीनें हैं। वह अपने 15 एकड़ की ज़मीन पर काम कर रही दूसरी औरतों की निगरानी करती हैं। गांव में उनका काफ़ी सम्मान है, वह काफ़ी जानकार हैं और अपने मज़दूरों को एक दिन के काम के लिए 100 रुपए की मज़ूरी देती हैं। लेकिन गांव की औरतें मनरेगा से जुड़ा काम उपलब्ध होने पर उसे तरज़ीह देती हैं। क्योंकि वहां उन्हें हर दिन के काम के 40 रुपए ज़्यादा मिलते हैं। और, वे बताती हैं कि वहां कोई दिन भर मेड़ों पर खड़े होकर उनकी निगरानी नहीं करता।

कन्नम्मल चिन्नतेवर (70 वर्षीय) ने अपनी तस्वीर लेने की इजाज़त तब दी, जब वह नीले रंग की एक सुंदर साड़ी और कानों में सोने की बड़ी सी बालियां पहनकर हमारे सामने आईं। उस समय दोपहर के 3 बज रहे थे और वह खेतों में काम करके लौटी थीं। उन्होंने क्षेत्र की परंपरा के अनुसार बिना चोली के साड़ी बांधी थी। उनकी पीठ सीधी थी, और उनकी त्वचा पर झुर्रियां चमक रही थीं। उनकी आंखों का रंग बादलों के जैसा था, और किसी के बहुत ऊंचा बोलने पर ही उन्हें कुछ सुनाई पड़ता था। लेकिन वह लगातार मुस्करा रही थीं, और हमारी बातों पर हामी भरते हुए अपना सिर हिलाते जा रही थीं। उनके बेटे जयबल ने मुझे बताया कि वह आर्थिक रूप से सुरक्षित होने के बावजूद काम पर जाती हैं। वह हंसकर बताते हैं, “उनके पास कुछ सोना है, और वह लोगों को उधार पर पैसे भी देती हैं। वह मुझ पर ज़रा भी निर्भर नहीं हैं।”

जबकि औरतें खेतों में काम करती हैं, पुरुष दूसरे कामों में व्यस्त होते हैं। बड़े आदमी दोपहर के समय नीम के पेड़ के नीचे ताश खेलते हैं। अगर 2011 की जनगणना के आंकड़ों की मानें, तो “राष्ट्रीय स्तर पर कार्यबल में महिलाओं की भागीदारी महज़ 25.31% है, जबकि पुरुषों के लिए ये आंकड़ा 53.26% है। ग्रामीण क्षेत्र में, कार्यबल में महिलाओं की भागीदारी पुरुषों के 53.03% की तुलना में 30.02% है। शहरी क्षेत्र में, यह महिलाओं के लिए 15.44% और पुरुषों के लिए 53.76% है।

नाडुमुदलईकुलम की औरतें ज़रूर ये जानना चाहेंगी कि जनगणना के मुताबिक, “काम” की परिभाषा क्या है...

साभार : ruralindiaonline.org

ऐरोन बुशनेल का आत्मदाह इज़रायली क्रूरता के प्रति अमेरिकी शासन के अंधे समर्थन का परिणाम है

त्रिभुवन



अमेरिकी सैनिक ऐरोन बुशनेल ने वॉशिंगटन डीसी में इज़रायली दूतावास के सामने 'फ़्री फ़िलिस्तीन' का नारा लगाते हुए खुद को ज़िंदा जला लिया ताकि दुनिया की नज़रें गाजा की ओर मुड़ जाएं। क्या बुशनेल जैसे लोग भुला दिए जाएंगे? क्या कोई युद्ध के विरोध में प्रतिबद्धता दिखाएगा और गाजा से लेकर यूक्रेन तक मानवीय नरसंहार का विरोध करने के लिए खड़ा होगा?

अमेरिकी वायुसैनिक ऐरोन बुशनेल ने अमेरिका के वॉशिंगटन डीसी में इज़रायली दूतावास के सामने 'फ़िलिस्तीन को मुक्त करो' का नारा गुंजाते हुए खुद को ज़िंदा जला लिया ताकि पूरी दुनिया की नज़रें गाजा की ओर मुड़ जाएं। जलकर खाक होते हुए ऐरोन बुशनेल का वह वीडियो मनुष्य को भीतर तक हिला देने वाला है। आग लगाने की तैयारियां करने से लेकर खाक होकर ज़मीन पर ढेर हो जाने तक का वह वीडियो मेरे दिमाग से कभी नहीं हटेगा।

ऐरोन बुशनेल जल नहीं रहा, अग्नि की लपटों में बेहद मज़े से ऐसे नहा रहा है, मानो वह आग नहीं, किसी झरने की आनंददायी जलधारा है। उसके इस तरह जलते समय एक इज़रायली सैनिक उसकी तरफ़ स्टेनगन ताने हुए उछलकूद रहा है। यह दृश्य बताता है कि इज़रायल हो जाना नृशंसता, उन्माद और पथराएपन का एक नया विशेषण है।

यह वीडियो जड़ता और यथास्थितिवाद के शिकार लोगों को पश्चिमी डिस्टोपिया (Dystopia) की उस दिमागी उलझन और विचलित स्तब्धता से बाहर निकालने के लिए काफ़ी है। ऐरोन बुशनेल का यह आत्मदाह इज़रायली क्रूरता के प्रति अमेरिकी शासन के अंधे समर्थन का परिणाम है।

आज धरती पर हर जगह अन्यायी, पक्षपाती और अलोकतांत्रिक शासकों का ही नहीं, तकनीकी या पूंजी की शक्ति से अतुल बलवान हुए लोगों के अन्याय और अत्याचार समा नहीं रहे हैं। इज़रायल के सैनिक और शासक गाजा में जिस तरह जुल्म कर रहे हैं, उससे कम यूक्रेन में भी नहीं हो रहे हैं। कहीं किसी को चीन का समर्थन है तो कहीं किसी को फ्रांस, ब्रिटेन और अमेरिका का। इनके आम नागरिक भले इससे खफ़ा हों; लेकिन वे क्या कर सकते हैं?

सत्ता कोई भी हो, वह जब नृशंस होकर शासन करने उतरती है तो उन देशों से अधिक उनसे बाहर उन्हें रोमांसनुमा प्रेम करने वाले लोगों का बड़ा समर्थन मिलने लगता है। लेकिन न्याय और मनुष्यता ऐसे मूल्य हैं, जिसके लिए संवेदनशील लोग सैकड़ों साल से अपना बलिदान देते आए हैं। इसलिए जलते हुए ऐरोन बुशनेल के उस दृश्य से अधिक ऐरोन बुशनेल की आत्मा से निकलकर आसमान तक गूँजती पुकारों की ध्वनियां हम सबके साथ रहती हैं।

ऐरोन बुशनेल को जाने कितने ही लोगों ने देखा होगा; लेकिन सैनिक होने के कारण उसके भीतर की संवेदनाएं और कोमलताएं शायद ही कभी किसी को दिखी होगी। लेकिन उसकी आवाज़

माइकल सेरा की तरह गूजती है और ऐसी ध्वनि पैदा करती है, मानो अभी-अभी सुदूर से आया धातु का कोई टुकड़ा लोहे के किसी कंटेनर से जा टकराया है।

ऐरोन बुशनेल के 'फ्री फिलिस्तीन' कहने की आवाज़ें गूज रही हैं। अब लगता है कि उस समय वॉशिंगटन डीसी के पूरे आसमान पर शब्दहीन चीखों के बादल तैर रहे थे; लेकिन इस्लामिक कट्टरपंथियों की घृणा से लबरेज अमेरिकियों के विवेक पर पड़े पर्दे ने शायद उनके कानों के पर्दों पर पिघला सीसा डाल दिया था और वे इन्हें सुन नहीं सके।

ऐरोन बुशनेल हंसते हुए अग्नि की लपटों में नहा रहा है और एक पुलिस वाला बार-बार ज़मीन पर गिरते हुए चिल्ला रहा है और बंदूक ताने हुए है। ऐरोन बुशनेल आग के झरने के नीचे नहाते हुए अपने प्रतिरोध के आत्मबल का आनंद ले रहा है और इजरायली सुरक्षा बल का यह जवान आग बुझाने वाले यंत्र को लाने के बजाय अभी भी अपने अंधे प्रतिक्रियावाद में लिपटे भय की क्रूरता को जीवंत कर रहा है। इजरायली दूतावास में ऐसा कोई नहीं है, जो उसे बचाने के लिए कूदकर आ सके।

उस शाम वॉशिंगटन डीसी में इजरायली दूतावास के बाहर जाने कितनी सारी अविश्वसनीयताएं तैर रही थीं। शायद यह कभी किसी को पता नहीं चलेगा कि ऐरोन बुशनेल को आत्मदाह करते

हुए किसी तपस्वी की तरह खड़े रहने की ताकत मिली कहां से? वह जल रहा है और उसका बोलना बंद हो जाता है तो भी वह किस तरह इतनी देर तक खड़ा रहा? वह आत्मदाह की जलन से चीखा क्यों नहीं? उसने बचाओ-बचाओ का शोर क्यों नहीं मचाया? इजरायली दूतावास के भीतर से कोई भागकर क्यों नहीं आया? क्यों इतने आधुनिक देश में उसकी सेना का एक जवान इस तरह धू-धू कर कैसे जल मरा? क्यों इस महाशक्ति के पास वह शक्ति नहीं रही, जिससे वह अपने इतने संवेदनशील सैनिक को बचा पाता?

बुशनेल को अस्पताल ले जाया गया, जहां पहुंचने से पहले ही संभवतः उसकी मृत्यु हो चुकी थी। लेकिन यह सामान्य नहीं, भयानक से भी भयानक मौत थी, जिसकी गहराई और गंभीरता के साथ-साथ भयावहता को सैन्य बल के सहारे चलने वाले क्रूर शासकों का समर्थक इंसान शायद ही कभी महसूस कर सके। यह न तो क्षणिक आत्मदाह है और न ही मूर्खता से विरोध में मन जाना।

दरअसल, यह करोड़ों लोगों के सामने शासकीय पद्धति से डिजाइन की गई वह हत्या है, जो आने वाले समयों में कभी किसी के हिस्से किसी रूप में आएगी और कभी किसी के हिस्से किसी के समय में। शासकीय युद्धों की संतानों को न तो गाजा की पीड़ा समझ आ सकती है और न ही यूक्रेन के नागरिकों पर रूस के विमानों से गिराए जा रहे बमों की अमानुषिक मौत।



आज हम ऐसी दुनिया में रह रहे हैं, जहां जाने कब, कैसे, कहां, क्यों और किस तरह की मौत आ जाए। आप कोरोना जैसी अप्रत्याशित बीमारी से मर सकते हैं। किसी कृत्रिम विषाणु हमले में आपकी जान जा सकती है। आप सड़क पर नियमों का पालन करते हुए चल रहे हैं और हो सकता है कि सामने से डिवाइडर के पार उस तरफ से आता हुआ कोई वाहन आपको कुचल डाले। आप युवा हैं और ट्रेडमिल पर दौड़ रहे हैं तो संभव है कि वहीं ढेर हो जाएं। आप कहीं कुछ खा रहे हों और संभव है कि उसमें कोई ऐसा पदार्थ आ जाए, जो आपको धीमी मौत की गोद में पटक दे। आपकी जान किसी बम धमाके में जा सकती है।

हो सकता है, आप सोचते हों कि आप लोकतांत्रिक मुल्क में आंदोलन का हक रखते हैं और आप तिरंगा ध्वज लेकर नारे लगा रहे हों और पुलिस की गोली आपके कपाल पर अपनी शक्ति का निशान छोड़ते हुए आपको मिट्टी में मिला दे।

संभव है आप पुलिस में हों और आपकी तरफ उछला पत्थर आपकी जान ले ले या आप ट्रैफिक कंट्रोल कर रहे हों और कोई सरकारी बस आपको कुचलते हुए निकल जाए। आप सेना में हो सकते हैं और हो सकता है कि आप किसी राह से गुजर रहे हों और आपका वाहन किसी खराब सड़क के कारण गह्वर में जा गिरे। हो सकता है, आप एक जहीन-शहीन और खूबसूरत लड़की हों और कोई दुष्ट अपना शिकार बनाने की कोशिश करे और जब होश में आए तो फांसी से बचने के लिए आपकी हत्या करना ज़रूरी समझे। हो सकता है, आपने जीवन भर देश सेवा में लगे रहे हों और अब आप बैंक में अपने जीवित होने का प्रमाण पत्र देने पहुंचे हों और वहां लूट की वारदात अंजाम दी जा रही हो और उनकी गोली आपके ही सीने में उतरने की प्रतीक्षा कर रही हो। बुशनेल का आत्मदाह ऐसे प्रश्नों की झड़ी लगा रहा है।

इस दुनिया में अपने अंतिम कदम से कुछ समय पहले बुशनेल ने फेसबुक पर लिखा था: 'हममें बहुतेरे लोग अपने आप से पूछना पसंद करते हैं, 'अगर मैं गुलामी के दौरान जीवित होता तो मैं क्या करता? अगर मेरा देश नरसंहार कर रहा हो तो मैं क्या करूंगा?' 'जवाब है, आप यह कर रहे हैं। अभी।' ऐरोन बुशनेल ने इस चुनौती का अपना उत्तर स्वयं प्रदान किया है। हम सभी अभी अपना स्वयं का प्रावधान कर रहे हैं।

लेकिन यहां यह समझना भी ज़रूरी है कि सरकारें ऐरोन बुशनेल जैसे लोगों को किसी आतंकवादी दस्ते के प्रभाव में भी बता

सकती हैं। वे कह सकती हैं कि ऐसे लोग भटके हुए हैं और उनकी मानसिक अवस्था स्वस्थ नहीं। यह भी संभव है कि उन्हें विकृत चित्त का बता दिया जाए।

आज क्या असंभव है? आज हर जगह ट्रोलर्स की बाढ़ है। वे ऑनलाइन चर्चा में कुछ भी ला सकते हैं। अब संवेदनहीनता की पराकाष्ठा हो गई है और सच्चे से सच्चे और ईमानदार से ईमानदार व्यक्ति को झूठे से झूठा और बेईमान से बेईमान घोषित किया जा सकता है। अब किसी भी व्यक्ति का ऐसा इतिहास खंगाला जा सकता है, जो न सच है और न तथ्याधारित; लेकिन अब आपके बारे में ऐसी गंदगी की तलाश संभव है, जैसी कभी आपने अपने शत्रु के बारे में भी कल्पना न की हो। ऐसा एक तथ्यहीन तथ्य आपको दुनिया भर में कुछ का कुछ साबित कर सकता है।

इस तरह की बातें ऐरोन बुशनेल के बारे में भी सोशल मीडिया और एक्स पर पढ़ने को मिल रही हैं। इसलिए यह चिंता न करें कि एक्स पर जो पतनशीलता छाई हुई है, वह सिर्फ भारतीय ही करते हैं, अब अमेरिकी भी किसी से पीछे नहीं।

क्या कभी किसी ने सोचा होगा कि इतिहास के इस बिंदु पर हम सब यही करना चुनेंगे? यह कौन-सी मानसिकता है कि युद्धों के नरसंहार के बाद जब अशोक जैसे सम्राट हिंसा से तौबा कर महात्मा बुद्ध की राह पर चल दिए और अब शांति और करुणा के धर्मों के भीतर पले-बढ़े शिशु जवान होकर नरसंहारों को किसी अश्वमेध यज्ञ से कमतर रूपों में नहीं देख रहे हैं।

ऐरोन बुशनेल के आत्मदाह का वीडियो यह बताता है कि किस तरह हम एक आत्महंता कालखंड की ओर धकेले जा रहे हैं, जो सिर्फ गाजा ही नहीं, पूरी दुनिया के भस्मीकरण की राह तैयार कर रहा है। ऐसे भस्मीकरण की राह, जो संत्रास नहीं, एक बुरे सुख वाली पीढ़ी को जन्म दे रहा है। इससे सिर्फ मनुष्यता ही नहीं, प्रकृति और उसके समग्र जीव-वैभव का आत्मविनाशी पथ ही प्रशस्त होगा।

क्या कभी किसी ने यह कल्पना की थी कि जब लोकतांत्रिक युग आए तो लोग युद्धों, टकरावों और नरसंहारों के समर्थन में खड़े मिलेंगे? घोर निर्धनता से लड़ने के उन सपनों का क्या हुआ, जो लोकतंत्र की अवधारणा आने के समय हमारे पुरखों ने देखे थे?

क्या कारण है कि लोकतांत्रिक संस्थाएं कमजोर पड़ती जा रही हैं या की जा रही हैं और सेनाएं, पुलिस, रक्षाबल, सरकारी एजेंसियां, हर कदम पर नागरिकों की छानबीन करने वाले संगठन और आपके कदमों से लेकर वैचारिक पदचिह्नों तक की टोह रखने वाले तंत्र ने एक

सशक्त रूप ले लिया है? किसान दिल्ली जाता है तो सरकार क्यों रास्तों पर अंतरराष्ट्रीय सीमा से भी अधिक कड़े पहरे बिठा देती है? आखिर जनता के सबसे निकट दिखने और जनता के सबसे प्रिय दिखाई दे रहे शासकों को उसी जनता से इतना भय क्यों लग रहा है?

आखिर वह कौन-सी बात है, जो एक सैनिक होने के बावजूद ऐरोन बुशनेल को तो कुरेदती है; लेकिन लोकतांत्रिक रूप से निर्वाचित जनप्रतिनिधियों को वही बात भयानक लगती है। उनकी आंखें सब कुछ देखते हुए ही क्यों अनजान बनी रहती हैं?

युद्ध के गोलों निरीह शिशुओं, सहृदय महिलाओं और सिसकते बीमारों पर गिराए जा रहे हों तो भी महाशक्तियों के हृदय स्तब्ध क्यों नहीं होते? वे उस तरह सहसा किसी उद्रेग से क्यों गोले फेंकती तोपों या बम बरसाते विमानों को रोकने की कोशिशें करते? वे क्यों लोकतंत्र के पिछवाड़े अंधेरे में बैठकर नृशंस नरसंहारों को देखकर मंद-मंद मुस्कराते हैं और इसे अपनी विजय के रूप में एक रमणीय स्वप्न के पूरे होने की तरह महसूस करते हैं?

इजरायल और फिलिस्तीन के बीच चल रहे युद्ध में आज हर दस मिनट में एक शिशु मारा जा रहा है। सात अक्टूबर 2023 से अब तक 29,954 लोगों को इजरायल सैनिकों ने मार डाला है और 70,325 को घायल कर दिया है। फिलिस्तीन के नागरिक अपनी ही मातृभूमि से बेदखल कर दर-दर भटकने को मजबूर कर दिए गए हैं और उनकी तादाद 19 लाख से कम नहीं। फिलिस्तीनियों के हमलों में इजरायल के 814 लोग मारे गए हैं और 10,580 घायल हुए हैं। इजरायल के 254 नागरिकों का अपहरण कर लिया गया है और दो लाख से पांच लाख नागरिक आज मारे-मारे फिर रहे हैं। उनके पास अपना कोई ठिकाना नहीं है।

ऐसा लगता है कि इजरायली सेना को आम फिलिस्तीनी नागरिक अपना वैध शिकार लग रहा है और इजरायल की इस मानसिकता को अमेरिकी शासन से पूरा समर्थन मिल रहा है।

मनुष्य एक पशु है; लेकिन वह मूलतः एक जैव सामाजिक प्राणी है। हम आए दिन देखते हैं कि जंगल में किसी वन्य जीव पर कोई हिंसक और आक्रामक जानवर हमला करता है तो उसके साथ उसे छोड़कर भागते नहीं, बल्कि उसे बचाने और अतुल बल वाला होने के बावजूद कमजोर से कमजोर जानवर भी उसे खदेड़कर दम लेते हैं। लेकिन मनुष्य इस तरह वन्यजीवों से क्यों सबक नहीं लेता?

अगर उनकी संवेदना ऐरोन बुशनेल के भीतर प्रवेश करती है तो उसके साथी या उस जैसे बाकी लोग इस अमेरिका में ही नहीं, पूरी दुनिया में क्यों छटपटाते नहीं और क्यों चुप रह जाते हैं? वे क्यों अपनी

कमजोरियों के बावजूद वन्यजीवों जैसे अपने आत्मबल से जीवट के साथ अनवरत रूप से नहीं लड़ते हैं? आखिर मनुष्यों को दुष्टों से क्यों इतना प्रेम है और क्यों सत्ता में आते ही उन्हें वे मोहक लगने लगते हैं?

आखिर ऐरोन बुशनेल जैसे लोग क्या सिर्फ आत्मदाह करके मर जाएंगे और भुला दिए जाएंगे? उसकी मूल भावना को कौन समझेगा? कौन होगा जो हालात से कतराएगा नहीं और डरेगा नहीं? लोग कब तक शोचनीय स्थितियों में जीते रहेंगे? क्या कोई युद्ध के विरोध में अपनी प्रतिबद्धता दिखाएगा और गाजा से लेकर यूक्रेन तक मानवीय नरसंहार का विरोध करने के लिए उठ खड़ा होगा? यूक्रेन पर रूसी हमले के बाद वहां पांच लाख से अधिक लोग हताहत हो चुके हैं, जिनमें एक लाख 80 हजार तो सैनिक ही हैं। इसी तरह रूस के एक लाख 20 हजार से अधिक सैनिक मारे गए हैं और एक लाख 80 हजार से अधिक सैनिक घायल हुए हैं।

क्या हम यह सोच पा रहे हैं कि ऐरोन बुशनेल ने तो एक सैनिक होकर भी गाजा को लेकर आत्मदाह कर लिया; क्योंकि उसके भीतर चेतना और संवेदनाओं की ध्वनियों के बुलबुले लगातार उठ रहे थे और वह एक ऐसी निर्णायक स्थिति पर पहुंच गया था, जहां उसके लिए हृदय के भीतर से उठ रहे बिजली के झटकों को सहन करना संभव नहीं था।

गाजा हो, यूक्रेन हो या ईरान या इराक की दहलती धरती हो, आखिर लोग उठते क्यों नहीं हैं? देशों के भीतर इतना अंधेरा बढ़ता क्यों जा रहा है? लोकतंत्र और सहअस्तित्व के पांव इतने लड़खड़ा क्यों रहे हैं? राहें सूनी और सर्द अंधेरे के आगोश में क्यों हैं? हमारे सिरों पर नभ में सितारे कब तक उदास दिखाई देंगे और संगीनों की नोकों का चमकता हुआ जंगल कब तक हमारे डराता रहेगा? कब तक शासकों की अलोकतांत्रिक पदचाप का तालबद्ध स्वरपुंज हमें सिर्फ अस्थि-रूप में ही बदलता रहेगा?

ऐरोन बुशनेल का आत्मदाह साफ़ बता रहा है कि अन्याय के अंधेरे में लोकतंत्र का दिखावा कर रहे शासकों के भीतर का राक्षसी स्वार्थ अब नए रूप में सामने आ गया है। ऐसा लगता है, कोई जागे न जागे; लेकिन ऐरोन बुशनेल का जलता हुआ भूत पूरी दुनिया में घूमता रहेगा और चेताता रहेगा कि तुम जितना जल्द संभव हो जाग उठो। नहीं जागे तो तुम्हें पाषाण मूर्ति बनकर अपनी आत्मा के पिंजर से निकलती अपनी संततियों के लिए नए-नए रक्तकुंड तैयार करने के काम से शायद ही कभी फुरसत मिले!

साभार : <https://thewirehindi.com/>

क्या उत्तराखंड के ज्वलंत मुद्दों से ध्यान हटाने के लिए यूनिफॉर्म सिविल कोड का सहारा लिया गया है?

उमाकांत लखड़ा



उत्तराखंड के सुदूर गांवों, तहसीलों और कस्बों में आम आदमी और लिखे-पढ़े लोग भी पूरी तरह भ्रमित हैं कि बेशुमार समस्याओं से घिरे इस छोटे-से प्रदेश में विवादास्पद यूनिफॉर्म सिविल कोड कानून (यूसीसी) लाने और इसे इतनी अफरातफरी में विधानसभा में पारित कराने की सरकार को इतनी जल्दी क्या थी। आर्थिक अभावों में और चौतरफा चुनौतियों से जूझ रहे लोगों के लिए इसके फायदे क्या होंगे। जनता चुनी सरकार उन्हें पहले से क्यों नहीं बताती कि इस कानून के पास होने से उनकी जिंदगी और तकदीर किस तरह से बदलेगी।

इस गहरी दुविधा और भ्रम बढ़ने का एक बड़ा कारण यह भी है कि अजीबोगरीब विधेयक पेश और पारित होने के पहले उत्तराखंड के सिविल सोसाइटी, आंदोलनकारी राज्य के कानूनविदों, महिला संगठनों, युवा प्रतिनिधियों में किसी ने प्रावधानों की भनक तक नहीं लगने दी।

आखिर ऐसी क्या वजह कि इतने गंभीर विषय, जो नागरिकों के मौलिक अधिकारों और दूसरे धर्म के आंतरिक कानूनों को निरस्त करने की हद तक जा रहा हो और लोगों की व्यक्तिगत और निजता और पुरुष-महिला की मान मर्यादा के अधिकार में सीधा दखल देता हो, उसे चुटकियों और शेरों-शायरी के हल्के अंदाज में पारित करने में जरा भी हिचक नहीं दिखाई गई।

विडंबना यह भी है कि सरकार की मंशा पर सवाल उठाने वाले विपक्ष के सवालों का जवाब देने के बजाय आपत्तिजनक टीका-टिप्पणियां करने से जरा भी परहेज नहीं किया गया। इसके प्रावधानों के बारे में विवाद और तेज हो गए हैं।

लोगों को इस बात से आश्चर्य है कि विधेयक के प्रावधानों के बारे में इसे पेश होने के पहले विधायकों को रती भर भी पता नहीं था

कि विधेयक में क्या है और सदन में पेश करने के पहले दिन या कुछ दिन पहले इसमें निहित प्रावधानों के बारे में विपक्षी दलों के नेताओं को भरोसे में लेने की चेष्टा क्यों नहीं की गई।

गंभीर प्रश्न हैं कि परिवार में बराबरी का अधिकार, पति की क्रूरता और विवाहेतर रिश्तों समेत कई पारिवारिक विवादों को जिस तरह से एक राज्य की विधानसभा में पारित कर दिया, उसे आखिर पूरे भारत के संविधान के प्रावधानों के समकक्ष कैसे खड़ा किया जाएगा। सवाल इसलिए अहम है कि उत्तराखंड में नया यूसीसी कानून पारित होने के बाद क्या उत्तराखंड की न्यायिक सेवाएं अब भारत के संविधान के ढांचे से आजाद हो जाएंगी? इस तरह के सवालों के जवाब उत्तराखंड के आम आदमी को कौन देगा?

उत्तराखंड हाईकोर्ट में वरिष्ठ अधिवक्ता बीपी नौटियाल कहते हैं, 'राज्य की विधानसभा में यूसीसी का जो कानून पारित हुआ उसमें हिंदुओं के कई ऐसे कानून छिन जाएंगे जिनके बार में संयुक्त हिंदू परिवार से संबद्ध कानून में पुख्ता प्रावधान हैं। अगर यूसीसी लागू हुआ तो भारत का संविधान जो पूरे देश का है वह महज एक राज्य के लिए कैसे निष्प्रभावी मान लिया जाएगा।' बकौल उनके, एक विविध और सेकुलर संविधान के चलते कोई राज्य कैसे विभिन्न धर्मों के कानूनों में अतिक्रमण कर सकता है।

दूसरे विशेषज्ञ मानते हैं कि भारत के संविधान और सुप्रीम कोर्ट की ढांचे में किसी राज्य के समानांतर कानून, जो संपूर्ण कानूनी व्यवस्था में दखल देते हों, टिक नहीं सकेंगे।

आम लोगों के मन में यह भी सवाल उठ रहे हैं कि क्या उत्तराखंड के ज्वलंत मुद्दों से ध्यान हटाने के लिए इस तरह के विवादास्पद कानूनों का सहारा लिया गया। पहाड़ के घर-घर में कई

लिखे पढ़े बेरोजगार मिलेंगे। विवादास्पद अग्निवीर भर्ती व्यवस्था का सबसे बड़ा हमला उत्तराखंड के उन नौजवानों के परिवारों पर पड़ा है, जो अरसे से सेना में भर्ती होकर परिवार की आर्थिक सुरक्षा का सहारा बनते थे।

अब हालात ये हैं कि सुदूर क्षेत्रों में निरंतर खाली हो रहे गांवों और कस्बों में बेरोजगारों की फौज हर जगह दिख रही है। राज्य बनने के बाद लाखों की तादाद में उत्तराखंड के गांवों और शहरों से पढ़ाई और बेहतर स्वास्थ्य सुविधाओं की खातिर लोग हमेशा के लिए बाहरी शहरों में चले गए।

कई प्रबुद्ध लोगों में आम धारणा यह भी है कि अयोध्या में चूँकि अब राम मंदिर बन चुका है सो अब 2024 के चुनावों और उसके बाद देशव्यापी उथलपुथल और वोटों के ध्रुवीकरण के लिए अब यूनिफॉर्म सिविल कोड जैसे मुद्दों को हवा देकर देश में तात्कालिक और दूरगामी दोनों ही सरकार का सोचा समझा एजेंडा है।

उत्तराखंड कहने को हिमालयी राज्यों में शुमार है, स्थापना के अपने मकसद में पूरी तरह विफल हो चुके इस राज्य में ढाई दशक में पांच निर्वाचित सरकारें सत्ता में आईं लेकिन बेशुमार समस्याओं से घिरे उत्तराखंड में सत्ता में बैठे लोगों और यहां के संसाधनों की बंदरबांट में शामिल सरकार में बैठे लोग और मलाईदार पदों पर काबिज नौकरशाही को छोड़ हर कोई हताश और निराश है।

सुदूर पहाड़ और मैदानी क्षेत्रों में घर-घर का सर्वे करने की सरकार में हिम्मत नहीं। इसलिए कि जो नौजवान राज्य के लिए हुए आंदोलन के दौर और अलग पर्वतीय राज्य की स्थापना के दिनों में जन्में थे, अब शिक्षित और पढ़ाई की डिग्रियां होने के बाद भी उनके पास रोजगार नहीं है। बड़ी तादाद में नौजवानों की शादी की औसत आयु पार हो चुकी है। अब परिवार वाले ऐसे नौजवानों की शादियां करने का जोखिम इसलिए नहीं उठा पा रहे क्योंकि 30-35 आयु पार करने के बाद भी न कोई सम्मानजनक नौकरी है और न कोई कमाई का जरिया हाथ में है।

निस्संदेह उत्तराखंड राज्य बनाने का मौलिक और सबसे बड़ा उद्देश्य ही सुदूर पर्वतीय जिलों में शिक्षा, अस्पताल, सड़क, बिजली, पानी जैसी मौलिक सुविधाओं को जुटाकर शहरों की ओर पलायन रोकना था। लेकिन राज्य बनने में जितने साल बीते करीब उतने ही गुना पहाड़ों से पलायन तेज होता गया। जनता के साथ नेता और जन प्रतिनिधि भी दुर्गम पहाड़ी क्षेत्रों से सुरक्षित मैदानी क्षेत्रों में पलायन कर गए।

अब वह दिन दूर नहीं जब 85 प्रतिशत पर्वतीय भूभाग और 15 प्रतिशत से भी कम तराई और मैदानी क्षेत्रों में विकास, अधिकार

और संसाधनों के बंटवारे को लेकर सामाजिक संघर्ष की उथलपुथल हो सकती है।

उत्तराखंड के वरिष्ठ सामाजिक कार्यकर्ता और इतिहासकार प्रोफेसर शेखर पाठक कहते हैं, 'जिस जल्दबाजी में विधेयक पारित किया गया वह निश्चित ही आम चुनावों के वक्त देश में धार्मिक ध्रुवीकरण के एजेंडा के तहत लाया गया। सरकार के इस छिपे एजेंडा का उत्तराखंड राज्य के समक्ष खड़ी चुनौतियों से कोई चिंता नहीं झलकती।'

आम धारणा है कि राज्य में सरकारी नौकरियां बाहरी प्रदेशों के लोगों को मोटा पैसा देकर बेचने का धंधा सरकार में बैठे लोगों और माफिया के नेटवर्क के जरिये वर्षों से चल रहा है। कई लोग जेल भी गए और फिर बाहर आ गए। भ्रष्टाचार और घोटालों के मुद्दे कांग्रेस व भाजपा के लोग सिर्फ चुनावी भाषणों में उठाते हैं और फिर पांच साल तक गहरी नींद सो जाते हैं।

उत्तराखंड में भू कानून लाने, वहां की जल, जमीन, जंगल और नौकरियों पर राजनीतिक संरक्षण प्राप्त माफिया कब्जा कर चुके हैं। आपदाओं से पूरा हिमालयी क्षेत्र त्राहिमाम है। दो साल से जमीन धंसने से खाली कराए गए जोशीमठ में तबाह हुए परिवार अभी खानाबदोश हालात में जीवन जी रहे हैं। हिमालयी क्षेत्रों को तबाह करने वाली विकास योजनाओं का हथ्र पूरे देश और दुनिया ने सिलक्यारा में बखूबी देख लिया कि किस तरह सत्ता की गोद में बैठी निर्माण एजेंसियों ने श्रमिकों की जान की परवाह किए बिना ज्यादा मुनाफाखोरी के चक्कर में विवादास्पद चारधाम यात्रा की टनलों में सुरक्षा कदमों की खुलेआम धज्जियां उड़ाईं और कई सप्ताह सुरंग में फंसे श्रमिकों की जान खतरे में पड़ी। सत्ता के सौदागर अपनी पीठ थपथपाकर चलते बने। पहाड़ों में प्रकृति और जनजीवन से खिलवाड़ करने वाली निर्माण कंपनियों के ठिकानों पर कोई सीबीआई-ईडी नहीं भेजी गई।

सुदूर गांवों में गुलदार और बाघ हर साल दर्जनों महिलाओं व बच्चों को निवाला बना रहे हैं। देहरादून में बैठे लचर और संवेदनहीन सरकारी तंत्र पर कोई फर्क नहीं पड़ता क्योंकि उनकी नजर में खूंखार जंगली जानवरों के हमले 'रूटीन' मसले हैं।

वजह यह कि सुदूर पहाड़ों में बसे जिन बेबस लोगों ने लंबे आंदोलन से जो राज्य हासिल किया वह प्रदेश हासिल किया वह अब उनका नहीं, बल्कि दिल्ली से संचालित हो रहे बिचौलियों, माफिया राजनीति के गठजोड़ में जकड़ चुके चंद लोगों की जागीर जैसा बन चुका है।

साभार : <https://thewirehindi.com/>

राष्ट्र के नाम पत्र : हम पागलपन के बजाय विवेक को चुनें

अवनि बंसल



प्रिय साथी भारतीयों,

भारत एक प्राचीन भूमि है, जो सभी दिशाओं से बहने वाली बारहमासी नदियों के जल से समृद्ध हुई है, जो अपने साथ एक महान सभ्यता के बीज लाती है। हजारों वर्षों से भारत ने दुनियाभर के सभी लोगों का स्वागत किया है और उन्हें घर जैसा महसूस कराया है। हमारा यह घर हमेशा समावेशिता के लिए खड़ा रहा है और इसका लक्ष्य उच्च आध्यात्मिकता है, जो लोगों को शांति की जबरदस्त भावना के साथ उनकी रोजमर्रा की जिंदगी जीने में सक्षम बनाता है। हमारा सामाजिक ताना-बाना इसी सह-अस्तित्व से बना है। महान संतों ने कई महान कहानियां लिखी हैं, जो हमें सहस्राब्दियों तक प्रेरणा देती रहीं हैं। विभिन्न मान्यताएं, विचार प्रणालियां, अनुष्ठान, जीवन शैली एक साथ, पूर्ण सामंजस्य में एक-दूसरे के बगल में रहते हैं। इसलिए आज जैसे दिन पर, जब राजनीतिक, सामाजिक, कानूनी सीमाओं से परे एक मंदिर को धुरी बनाकर एक धर्म को केंद्र में रखा गया है- हमें अपने भव्य अतीत और अपने अज्ञात भविष्य दोनों पर रुककर पुनर्विचार करने की जरूरत है।

क्या हमारे बच्चे ऐसे भारत में बड़े होंगे जहां धर्म हमारी सभी पहचानों, बातचीत, जीवन के नियमों को समाहित कर लेता है- दूसरों को कम मानवीय, दूसरे दर्जे के का बना देता है? हालांकि ऐसा लग सकता है कि भविष्य का यह वादा बहुसंख्यकों के लिए है, लेकिन अपने आप को मूर्ख न बनने दें क्योंकि जब धर्म सत्ता के साधन में बदल जाता है तो वह हमेशा केवल मुट्ठीभर लोगों का ही भला करता है।

जब भारत एक राष्ट्र-राज्य के रूप में उभरा, तो हमारे पूर्वजों ने सर्वोच्चता और वर्चस्व के लिए लड़ने वाले विचारों के बीच भारतीय जीवन के लिए 'धर्मनिरपेक्षता' को चुना था। आरएसएस तब भी था, उसके समर्थक सभी महिलाओं और सभी जातियों के सदस्यों के लिए समान अधिकारों को मान्यता दिए बिना हिंदू राष्ट्र का आह्वान कर रहे थे। लेकिन आखिरकार यह एक धर्मनिरपेक्ष, उदार, समावेशी भारत का विचार था, जिसने जीत हासिल की।

आज जब हम अयोध्या में राम मंदिर का जश्न मना रहे हैं, तो हमें यह पूछने की जरूरत है – क्या हम अपने गौरवशाली अतीत को धोखा दे रहे हैं? जानलेवा झूठ की कीमत पर आरामदायक जीवन के लिए नफरत और 'मुसलमानों को अलग' करने की अनुमति दे रहे हैं, ताकि हम अपने आप को उन लोगों से बचा सकें जिनके पास सत्ता है? यदि इसीलिए हम अंधे बने रहना चुनते हैं, तो याद रखें कि शक्ति का स्रोत है- 'हम, लोग'। और यह हम लोग ही हैं, जो इस प्राचीन महान राष्ट्र की नियति का चुनेंगे। यदि हम अपने कामों को नजरअंदाज करना चुनते हैं और उनकी पूरी जिम्मेदारी नहीं लेते हैं तो न तो राम, न अल्लाह, यहां तक कि ईसा मसीह भी हमें नहीं बचा सकते।

धर्म एक निजी मामला है। यही हमारे राष्ट्रीय चरित्र को परिभाषित करता है। यदि हम इसे अभी छोड़ना चुनते हैं, तो हम किसी भेड़ की तरह व्यवहार करेंगे, जो अलग-अलग मालिक, अलग-अलग वेशभूषा में, अपने सीमित छोटे, बुरे, क्रूर उद्देश्यों के लिए हमें लुभा सकते हैं। सरकार को सभी धर्मों के साथ समान व्यवहार करना होगा। लोगों को 'हम बनाम वे' में बांटने पर आधारित राजनीति सबसे खराब किस्म की है।

हमें ऐसी राजनीति की जरूरत है जो शिक्षा, स्वास्थ्य और शासन को प्राथमिकता दे। एक ऐसा राष्ट्र जहां कोई भी भूखा, बेघर और चिंतित न सोए – यही वह आदर्श है जिसके लिए राजनेताओं को काम करना होगा।

सह-अस्तित्व ही एकमात्र कुंजी है, और प्रेम ही एकमात्र धागा है जो इसे बुन सकता है। हम पागलपन के बजाय विवेक को चुनें और 'सभी के लिए प्यार' हमारा गीत हो। जो लोग ऐसा करेंगे, इतिहास आपको याद रखेगा, भले ही आज आप अपने घरों में अल्पसंख्यक महसूस करते हों। सभी महान चीजें एक उम्मीद से शुरू होती हैं और यह एक ऐसी चीज है जिसका दामन हम छोड़ नहीं सकते। आज नहीं, कभी नहीं।

(लेखक सुप्रीम कोर्ट की अधिवक्ता और कांग्रेस पार्टी की सदस्य हैं।)

<https://ruralindiaonline.org>

भारतीय समाज में व्याप्त पितृसत्ता की दुरभिसंधि : 'प्रथम पुरुष'

विजय शर्मा

“

भारतीय समाज में पितृसत्तात्मकता एक गुणसूत्र के रूप में उपस्थित है। वही इस प्राचीन व्यवस्था में जातिवाद, श्रेष्ठतावाद, ब्राह्मणवाद और सामंतवाद का निर्माण करती है। अध्यात्म, दर्शन और न्यायिक क्षेत्र में भी यह अपने पूर्ण दुर्दांत रूप में स्पष्ट दिखती है।

समाज को कथित रूप से अनुशासित रखने हेतु परिवार और विवाह जैसी संस्था का निर्माण होता है और अंततः वही समाज के धिनौने रूप में आज हमारे सामने उपस्थित है। स्त्री और पुरुष के बीच संबंध केवल सामाजिक मान्यता और पुरुष की ताकत के प्रदर्शन पर आधारित हो गए हैं। इस व्यवस्था ने मनुष्य के रूप में सबसे अधिक बुद्धिमान प्रजाति और एक दूसरे के पूरक लिंगों को एक दूसरे का प्रतिरोधी बना कर खड़ा कर दिया है, जिस वजह से मनुष्यता के प्रेम

और सहजता जैसे मूल्य इस लड़ाई में ध्वस्त हो गए हैं और दया, प्रेम और सहिष्णुता जैसे सार्वजनीन मानवीय गुण कमजोर प्राणी का लक्षण बना दिए गए हैं।

युवा निर्देशक और लेखक संकेत सीमा विश्वास द्वारा लिखित नाटक 'प्रथम पुरुष' इसी सत्य को विश्लेषित करता है कि स्त्री, जो संपूर्ण मानवीय प्रजाति के उर्वर और मानवीय मूल्यों के संवाहक के रूप में हमारी सभ्यता में उपस्थित है, उसे पुरुष सत्ता किस तरह से अपनी देह और व्यवस्था से अर्जित गुणों द्वारा शोषित करती है और प्रेम जैसे गुण को उसकी कमजोरी बना कर उसी का शोषण करती रहती है और फिर उसी को इस कृत्य के लिए जिम्मेदार ठहरा देती है। मानवीय मूल्य जो करुणा, सम्मान और सहभागिता पर



आधारित थे, परिवार ने उसे रक्त-संबंध और स्त्री पुरुष के बीच होने वाले संबंधों को मान्य करने वाली संस्था बना दिया। इस व्यवस्था की विशेषता यह है कि वह शोषित का शोषण, उसको भावनात्मक रूप से महान बना कर करता है फिर वो स्त्री हो, दलित हो, दास हो या प्रजा...।

‘प्रथम पुरुष’ केवल संकेत सीमा विश्वास द्वारा लिखा गया एक नाट्य आलेख भर नहीं, भारतीय समाज में स्त्री की सामाजिक दशा पर लिखा गया आधुनिक आख्यान है। मध्यवर्ग का एक परिवार, जो समाज के अवमूल्यन के सारे लक्षणों से ग्रसित है, उसमें प्रतीक जैसा किशोर बड़ा हो रहा है। पिता को अपनी माँ का शोषण करते देख वह वही गुण अपने व्यक्तित्व में ढाल लेता है और उसी तरह के उसके मित्र उसे उसकी महिला मित्र के साथ दैहिक व्यभिचार के लिए प्रेरित करते हैं। यह बात सार्वजनिक हो जाने के उपरांत लड़की का पिता, जो जाति और वर्ग के श्रेष्ठतावाद से पीड़ित है, प्रतीक के परिवार को कटघरे तक खींच लाता है। अदालत में एक तरफ प्रतीक और उसके मित्र हैं तो दूसरी तरफ उसकी प्रेमिका और उसका परिवार; इस सब में प्रतीक की माँ और बहन मानसिक रूप से व्यथित हैं क्योंकि पिता इस सब के लिए उनको जिम्मेदार मानता है... और साथ ही भीड़ के स्वघोषित और स्वकृत न्याय एजेंडे को भी दर्शकों के साथ मंच पर साझा करता है। माँब लिंग की सोच को लेकर भी सवाल उठाता है।

नाटक जाति, धर्म और लैंगिक भेदभाव जैसे विभिन्न मुद्दों पर बहस पैदा करता है। इसके पात्र वर्तमान भारतीय समाज का प्रतिनिधित्व करते हैं। युवा जीवन शैली और उसके मूल्य विघटित होते समाज को आईना दिखाते हैं। औरत की समाज में स्थिति और न्याय व्यवस्था में उसकी आवाज को सुने जाने की प्रक्रिया इस नाटक का केंद्र बिंदु है और यहीं यह स्त्री के मानवीय अधिकारों पर बहस पैदा करता है। नाटक समाज के निम्न और मध्य वर्ग में समान रूप से व्याप्त पुरुष सत्ता के प्रभुत्व को स्पष्ट करता है और स्त्री की सहभागिता हेतु उसके संवैधानिक अधिकार के लिए भी सवाल उठाता है।

नाशिक इष्टा के इस प्रभावशाली नाटक का पहला प्रदर्शन परशुराम नाट्य गृह में 26 नवंबर 2023 को राज्य नाट्य स्पर्धा में हुआ। पर्दा उठते ही पहले दृश्य विधान से ही लगता है कि जर्जर रंग-परंपरावादी युग के अवसान काल का यह प्रथम नाट्य मंचन है। नाट्य तत्वों के अनुसार यह दर्शक के अक्षबिंदु को ध्यान में रख कर अपनी पूरी निर्मिति करता है।

प्रथम दृश्य में निम्नमध्यवर्गीय परिवार और उसके सामाजिक अलंकार मंच पर उपस्थित रहते हैं। भाव और उसकी क्रिया-प्रतिक्रिया प्रथम दृश्य से शुरू होती है और अंतिम दृश्य विधान तक पहुँचते-पहुँचते दर्शक को अपने साथ जोड़ लेती है। घर का दृश्य हो

या सामान्य मिलन स्थल का, यथार्थवादी मंचन होते हुए भी सेट की कमी कहीं नहीं अखरती। मंच पर प्रकाश का सहज अप्रतिम नियोजन नए प्रकाश बिंब बनाता है और नाटक के अंदर रोशनी की कई दीवारें बना देता है जो हरेक दृश्य को उसका अलग रूप देता है।

संवाद भारतीय समाज की भाषा के अनुरूप हैं, जिसका प्रयोग हम अपने जीवन में तो बहुत सहजता से करते हैं किंतु मंच पर सुनते ही हमारी तथाकथित संवेदनशीलता जागृत होने लगती है। देशज स्त्री-बोधक गालियाँ होते हुए भी संवाद असहज नहीं करते।

प्रेम इस नाटक में अपने दृश्य रूप में उपस्थित है। वासना के स्पर्श, प्रेमिल स्पर्श और लगाव के स्पर्श को निर्देशक ने जिस चातुर्य से दर्शाया है, वह अपने आप में अद्भुत है। युगल प्रेम दृश्य हों या बाजार में देह बेचती स्त्री का दृश्य या इस नाटक का केंद्रीय दृश्य, जहाँ शिल्पा का शीलभंग उसके अपने ही प्रेमी के द्वारा किया जाता है। सभी दृश्य अपने आकार और गहराई के साथ मंच पर सृजित होते हैं। यह भारतीय रंगकर्म में वर्जनाओं के खंडित होने की घोषणा करता है।

युवा पुरुष वर्ग के अवचेतन में उपस्थित कुत्सित भाव और उसके प्रचेतक हमारी आधुनिक जीवन शैली के तत्वों के साथ प्रदर्शित किए गए हैं। जैसे जैसे नाटक आगे बढ़ता है, जैसे जैसे भारतीय समाज में स्त्री सशक्तीकरण और “यत्र नार्यस्तु...” के खोखले नारे की परतें उधड़ने लगती हैं।

मराठी भाषा जैसे तो अपने लम्बे वाक्यों के लिए प्रसिद्ध है, किन्तु नाटक के संक्षिप्त और मारक संवाद भारतीय पुरुष की स्त्री संबधित सोच को स्पष्ट करते हैं।

किशोर के मन पर परिवार और समाज में निरंतर होने वाली यौन हिंसा का प्रभाव और उसके व्यक्तित्व-निर्माण में उसकी भूमिका को यह नाटक एक प्रश्न के साथ मंच पर प्रदर्शित करता है। नाटक का सबसे संवेदनशील दृश्य कोर्ट सीन है, जो अन्य नाटकों में प्रायः उबाऊ होता है, यहाँ उभर कर सामने आया है। स्त्री पक्ष का एकालाप मंच पर संवेदना का एक सोता बहा देता है, जो दर्शकों तक पहुँचते-पहुँचते एक मौन झंझावात में बदल जाता है।

यह नाटक आधुनिक और यथार्थवादी संरचना में बुना है और अपनी भाषा और संवाद शैली के कारण दर्शकों से सीधा संवाद स्थापित करता है, जो एक सफल मंचन के लिए बहुत महत्वपूर्ण कारक है।

नाटक के सभी पात्र अपने अभिनय से न्याय करते हैं। इस नाटक के पात्रों में सभी स्त्री-पात्र स्वाभाविक रूप से मुखर हैं। चाहें वो संवेदना के स्तर पर हो या चेतना के स्तर पर। प्रतीक की भूमिका में सुशील सुर्वे यद्यपि केंद्रीय चरित्र निभाते हैं, पर उनकी भूमिका को

और मेहनत की दरकार नज़र आती है, हालाँकि कई दृश्यों में सुशील याद किए जाने वाले भाव पैदा करते हैं।

आई (माँ) और समाज में मध्यवर्गीय स्त्री की हालत को उजागर करने के लिए, अपनी संवेदनशील भूमिका के लिए अर्चना नाटकर को एक बेहतर भूमिका के लिए याद किया जाना चाहिए। बाबा (पिता) के रूप में नागेश धूर्वे अपने एक ही चरित्र में कई अलग-अलग रंगों में दिखते हैं, तो दूसरी ओर उसी समय में समाज के क्रूर चेहरे और समय के मारे एक पिता की भूमिका को भी मंच पर लाते हैं। सुमी की भूमिका के माध्यम से मानसी स्वप्ना सुनिल कावळे ने नाटक में एक विशेष प्रश्न खड़ा किया है कि क्या स्त्री, समाज के लिए प्रचेतन का काम फिर से कर सकती है? सशक्त भूमिका के लिए उनको बधाई दी जानी चाहिए।

अशोक जो सुमी का प्रेमी, कवि और गायक भी है, उसकी भूमिका राहुल गायकवाड ने निभाई है। यह बहुत अंतर्द्वंद्व वाला चरित्र है, जिस पर और भी मेहनत की जानी चाहिए, पर प्रथम प्रयास बेहतर है। दिप्या (दीपक) पितृसत्ता के समाज का वह युवा चेहरा है, जो युवा अभिनेता प्रणव काथवटे ने सफलतापूर्वक अभिनीत किया है। मन्या (मनीष) और किरण्या (किरण) की भूमिका में कैवल्य चंद्रात्रे और ओम हिरे बेहतर साबित हुए। युवा दोस्तों की भूमिका में सभी ने स्वाभाविक रूप से अपने चरित्र को मंच पर जिया है।

वकील रिकामे की भूमिका में चेतन सुशिर अपने प्रभावशाली व्यक्तित्व का इस्तेमाल करके दर्शक वर्ग को एक बेहतर चरित्र अभिनेता से परिचय करवाते हैं। उसी तरह पहली बार मंच पर उतरीं वकील दुसाने की भूमिका में डॉ. सोनाली ठवकार अपने चरित्र को बहुत सहजता से निभाती हैं। कोर्ट में पक्ष और विपक्ष के अधिवक्ता की भूमिका में चैतन्य और सोनाली ने कोर्ट सीन को भी समाज के एक विशाल चेहरे के रूप में प्रस्तुत करने में सफलता पाई है।

आवेश लोहिया एक हिंदी डायलॉग से कोर्ट के एक सीन में आते हैं, पर प्रभाव पैदा करते हैं। संपत जो प्रतीक के पिता का दोस्त है, की भूमिका प्रकाश पिंगळे ने निभाई है जो और बेहतर हो सकता था। जज साब, जो केवल अपनी आवाज से मंच पर अपनी उपस्थिति दर्ज कराते हैं, उस आवाज पर मेहनत करने की जरूरत है। सुरेश भाऊ का पात्र, जो खुद लेखक और निर्देशक संकेत सीमा विश्वास ने निभाया है, थोड़ा फिल्मी लगता है पर बेहतर है। गणपतराव की भूमिका में मनोहर पगारे की बहुत संक्षिप्त भूमिका थी, पर वह खुद की उपस्थिति दर्ज करवाते हैं। शिल्पा के रूप में गायत्री रमेश नेरपगारे नाटक के केंद्र में भूमिका को रखने में सफल रही हैं। नाटक में उनके भाव-अभिनय को लंबे समय तक याद रखा जाना चाहिए। चंपा के रूप में अमन ने एक महत्वपूर्ण पक्ष को अभिनीत किया है, जो नाटक

के अंत तक रहस्यमय बना रहता है। उसे और खोजने और नाटक से जोड़ने की भूमिका लेखक को करनी होगी। सुमी के पति के रूप में मयुर इनामके अपना प्रभाव नहीं छोड़ पाते, उनकी भूमिका और प्रभावी होनी चाहिए। सुमी के ससुर और सास के रूप में मिलिंद चिगळीकर और सविता सुधिर जोशी अपनी आयु और अनुभव का बेहतर इस्तेमाल करते हैं।

पहला प्रदर्शन होने के नाते अभी भी नाटक के दृश्यबंधों में कई संभावनाएँ बाकी हैं। लेखक के रूप में ही नहीं, अपितु दिदर्शक के रूप में भी संकेत सीमा विश्वास अपने विचार की स्थापना और उसे प्रश्न बना कर दर्शक दीर्घा तक पहुंचाने में सफल रहे हैं। शंतनू कांबळे, संभाजी भगत के कविता और गीत नाटक को प्रभावी बना देते हैं। निर्माण व्यवस्थापन के साथ-साथ नाटक में नाशिक इप्ता के अध्यक्ष तल्हा शेख ने अभ्यंकर और पुलिस की भूमिका में अपनी उपस्थिति दर्ज करवाई है।

नेपथ्य, मंच सज्जा और पोस्टर के लिए मुक्ता की मेहनत को सराहा जाना चाहिए। नाटक के पात्रों के सहज किंतु आकर्षक वस्त्र विन्यास वैभवी चव्हाण ने रचे हैं। प्रकाश संयोजन को सरल लयकारी बनाने में समीर तभाने की कल्पनाशीलता प्रशंसनीय है। संगीत पक्ष और ध्वनि संयोजन पर तेजस बिल्दीकर ने अपने अनुभव का बेहतर इस्तेमाल किया है।

नाटक का अंत विस्मय और विषाद दोनों से भर देता है, जो पाठक को एक अंतर्यात्रा पर ले जाता है। अंत में यह कहना चाहता हूँ कि बहुत समय बाद इप्ता की नाशिक इकाई ने रंगमंच के वैचारिक क्षितिज पर लैंगिकता और जातीय राजनीति के अन्तर्सम्बन्धों को बीच बहस में लाया है और सफलतापूर्वक स्थापित किया है।

जातिगत राजनीति का दृष्टिकोण इस नाटक के कई दृश्यों में प्रभाव पूर्ण ढंग से लिखा गया है। राजनीति कैसे तथाकथित ऊँची और नीची जातियों के बीच के वर्गीय अंतर को जातीय संघर्ष में बदल देती है यह नाटक उसे भी बखूबी उकेरता है। विभिन्न जातियों के राजनेता अपनी राजनीति को उभारने के लिए कैडल लाइट मार्च का आयोजन करते हैं और उसी मार्च में शामिल लोग मोमबत्ती जलाकर बस्ती में आग लगा देते हैं। राजनीति में वर्गीय और जातीय अंतर को कई छोटे छोटे संकेतों से दर्शाया जाना इस नाटक की उल्लेखनीय सफलता है।

यहाँ यह कहे बिना रहा नहीं जा सकता कि मराठी रंगमंच ने हमेशा भारतीय रंगमंच को समाज में बदलाव की राह दिखाई है। यह नाटक विजय तेंदुलकर की परंपरा का नाटक है, जिसको आगे ले जाने के लिए मराठी रंगमंच को संकेत सीमा विश्वास के रूप में युवा रंग निर्देशक मिला है, जिन्हें पूरी गंभीरता और दायित्व के साथ इसे आगे ले जाना होगा।

दिल्ली विश्वविद्यालय : एक संभावनाशील प्रोफ़ेसर की बेदखली

अनिल मिश्र



दिल्ली विश्वविद्यालय के एक कॉलेज में पिछले 14 सालों से एडहॉक कोटे से पढ़ा रहे और अब बेदखल कर दिए गए डॉ. लक्ष्मण यादव की हाल ही में प्रकाशित किताब 'प्रोफ़ेसर की डायरी' एडहॉक व्यवस्था की क्रूरता का पर्दाफ़ाश करती है। इन व्यवस्था ने ऐसा वर्ग विभाजन पैदा किया है, जहां संभावनाशील और मेहनतकश प्रोफ़ेसरों को शोषण की अंतहीन चक्की में झोंक दिया जाता है।

दिल्ली अंग्रेजी राज के समय से ही शिक्षा का केंद्र रही है। दिल्ली विश्वविद्यालय से संबद्ध सैकड़ों कॉलेज हजारों विद्यार्थियों के अरमानों की शरणस्थली होते हैं। शिक्षा जगत में इस विश्वविद्यालय का वही स्थान है, जो देश की राजधानी के बतौर नई दिल्ली का है।

इस केंद्रीयता की एक वजह यह है कि संख्या बल के मामले में अगुवाई के अतिरिक्त जो बात दिल्ली विश्वविद्यालय को देश के दूसरे विश्वविद्यालयों से अलहदा करती है, वो ये होती है कि शैक्षिक नवाचार के मामले में यह नेतृत्वकारी भूमिका में होता है।

हालांकि, इसका एक बड़ा स्याह पक्ष यहां की एडहॉक व्यवस्था है, जिसने एक ऐसा वर्ग विभाजन पैदा किया है, जहां युवा, संभावनाशील और मेहनतकश प्रोफ़ेसरों को शोषण की अंतहीन चक्की में झोंक दिया जाता है। अगर ये युवा महत्वाकांक्षी और राजनीतिक तौर पर सचेत और आलोचनात्मक विवेक भी रखते हैं, उन पर इस घृणित व्यवस्था की सर्वाधिक मार पड़ती है।

दिल्ली विश्वविद्यालय के एक कॉलेज में पिछले 14 सालों से एडहॉक कोटे से पढ़ा रहे और अब बेदखल कर दिए गए डॉ. लक्ष्मण यादव की हाल ही में प्रकाशित किताब 'प्रोफ़ेसर की डायरी' एडहॉक व्यवस्था की क्रूरता का पर्दाफ़ाश करती है। साथ ही यह एक सजग प्रोफ़ेसर के इवोल्यूशन की प्रक्रिया का दस्तावेजीकरण करती है।

यह डायरी एक साहसी प्रोफ़ेसर के आंतरिक संघर्षों की झलक भी दिखाती है कि उच्च शिक्षा के क्षेत्र में वंचित समुदायों से आए नौजवान रोज़ाना किस तरह की चुनौतियों से रूबरू होते हैं, लेकिन अपनी गरिमा और ईमानदारी की हिफ़ाज़त से एक नई संभावना की उर्वरक ज़मीन तैयार करते हैं।

आजमगढ़ के एक किसान परिवार से निकलकर पहले इलाहाबाद विश्वविद्यालय और फिर दिल्ली विश्वविद्यालय से पीएचडी करते हुए लक्ष्मण की यात्रा में अकादमिक जगत के उन तिकड़मों की नब्ज को चिह्नित किया गया है, जो इस ज्ञान की कथित आदर्शकृत दुनिया की सतह के नीचे रिसती है।

इसमें जाति, जेंडर और क्षेत्र की बिना पर किए जाने वाले ऐसे भेदभाव हैं, जिन्हें भारतीय समाज की मुख्यधारा में बेपनाह स्वीकार्यता हासिल हैं। डॉ. लक्ष्मण शिद्दत से यह दर्ज करते हैं कि सदियों से वंचित समुदाय जब पढ़ लिखकर यथास्थिति को चुनौती देते हैं तो वर्चस्वशाली तबक्रे कैसे प्रतिक्रियावाद के सहारे हाशिये के समाज से आए युवाओं के सपनों को दफ़न करने में जुट जाते हैं।

डायरी में मूल नामों और पहचानों को बदल दिया गया है, लेकिन यहां दर्ज लोगों/चरित्रों की शिनाख़्त आसानी से की जा सकती है। सबसे बड़ी बात, ऐसी प्रवृत्तियों के लोग उच्च शिक्षा के

कमोबेश हरेक परिसर में पाए जाते हैं। पिछले 20-30 सालों में उच्च शिक्षा, उत्कृष्ट शोध कार्य और आलोचनात्मक ज्ञान परंपरा की धार को कुंद करने का जो सिलसिला चला है, उसके सबसे ज्यादा शिकार वंचित समुदायों से आने वाले विद्यार्थी हैं।

यह अनायास नहीं है कि हैदराबाद विश्वविद्यालय के मेधावी शोध छात्र रोहित वेमुला को आत्महत्या के लिए मजबूर करने वाली ताकतें अभी भी तख्तनशीं हैं। डॉ. लक्ष्मण की जीवन यात्रा में भी रोहित की शहादत से पैदा हुई व्याकुलता है।

इस बेचैनी और आक्रोश के कारण उन जैसे अनगिनत लोगों को गांव-देहात और कस्बों से आए मेहनतकश तबके से ताल्लुक रखने वाले विद्यार्थियों की समस्याओं के प्रति न सिर्फ संवेदनशील बनाया, बल्कि उन्हें एक बेहतर समावेशी दुनिया बनाने के संघर्ष के लिए भी प्रेरित किया।

डॉ. लक्ष्मण बताते हैं कि एडहॉक की समस्या सिर्फ बेरोजगारों के शोषण पर ही नहीं टिकी हुई है, बल्कि इसके और व्यापक फलक हैं। यही वजह है कि देश के शैक्षणिक संस्थानों में निर्णायक पदों पर दलित, आदिवासी और ओबीसी समुदायों के व्यक्ति लगभग नगण्य हैं। चाहे वह प्रोफेसर हों या कुलपति।

दिल्ली विश्वविद्यालय अध्यापक संघ (डूटा) ने परिसर के लोकतांत्रिकरण के लिए लंबा संघर्ष किया है, लेकिन अभी भी लड़ाई बाक़ी है। अब धड़ल्ले से राजनीतिक रसूख के आधार पर शिक्षकों से लेकर कुलपति तक की नियुक्तियां की जा रही हैं।

राष्ट्रीय शिक्षा नीति के नाम पर शिक्षा के व्यापारीकरण पर जोर है। जिस शिक्षा को कभी राष्ट्र निर्माण की परियोजना का एक अहम हिस्सा माना गया था, उसे अब मुनाफ़े की वस्तु के तौर पर तब्दील किया जा चुका है।

विश्व व्यापार संगठन और अन्य पूंजीवादी संस्थानों के दबाव से शिक्षा को खरीद फ़रोख्त की चीज़ बना दिया गया है। अब यह पीढ़ियों के निर्माण की परियोजना नहीं रह गई है।

डॉ. लक्ष्मण की डायरी उनको सामाजिक-राजनीतिक सक्रियता और एक उभरते जान-बुद्धिजीवी के सफ़र के पड़ावों को भी रेखांकित करती है। यह बताती है कि एक अच्छा शिक्षक कक्षाओं

की चारदीवारी से बाहर निकल कर अपने समय के विमर्शों में भी एक हस्तक्षेपकारी भूमिका का निर्वहन करता है।

वे नागपुर में एक व्याख्यान में शामिल होने गए थे, जब उन्हें कॉलेज की तरफ़ से सूचित किया गया कि उन्हें नियमित नियुक्ति नहीं दी गई है। वह नियमित नियुक्ति की सभी पात्रता पूरी करते हैं, लेकिन उनकी सामाजिक राजनीतिक सक्रियता और खुलकर बोलने के उनके साहस के कारण उन्हें क्रीमत चुकाने के लिए बाध्य किया गया।

ऊपर से सामाजिक न्याय का पक्षधर होने के चलते उन्हें कुछ सवर्णवादी प्रोफ़ेसरों से ताने सुनने पड़े कि 'इनका क्या! इन्हें तो मुलायम-लालू या तेजस्वी यादव जैसे लोग नौकरी दे ही देंगे।'

भारतीय गणतंत्र अपने सभी नागरिकों को आज़ादी और समतामूलकवादों के बाद भी सामाजिक और मनोवैज्ञानिक स्तर पर बराबरी के अधिकार देने में कोई खास कामयाब नहीं रहा है।

यही वजह है कि अकादमिक जगत में भी जुगाड़ और तिकड़म के आधार पर खेमेबंदी व्याप्त है। जहां साहस और बिना लाग-लपेट के बोलने वाले को सख्त नापसंद किया जाता है। जहां चापलूसी एक स्थिर गुण है।

यहां स्टाफ़ रूम की रोज़मर्रा गपशप में वर्चस्व की ऐसी परतदार संरचनाएं स्थापित हैं, जो शिक्षकों को नागरिकों के हक़-अधिकारों के लिए पक्षधर होने के बजाय उन्हें सत्ता का चाटुकार बनाती हैं। शिक्षा के अधिकतर केंद्र ज्ञान, विवेक और तर्कशील नागरिक के बजाय 'रीढ़विहीन और सर झुकाकर आज्ञाकारी' पीढ़ी तैयार कर रहे हैं।

डॉ. लक्ष्मण यादव की डायरी का अकादमिक जगत के उन सभी लोगों को दिल से स्वागत करना चाहिए, जो यथास्थिति को दरकाने के पक्षधर हैं और एक बेहतर समाज और बहुलतावादी दुनिया के साझा संघर्ष में यत्नीन रखते हैं। उनकी डायरी पढ़ते हुए निदा फ़ाज़ली का ये शेर बार-बार ज़ेहन में दस्तक देता रहा है:

जिन चराग़ों को हवाओं का कोई ख़ौफ़ नहीं

उन चराग़ों को हवाओं से बचाया जाए।

(लेखक हरिदेव जोशी पत्रकारिता विश्वविद्यालय, जयपुर में सहायक प्रोफ़ेसर हैं)

इंस्टीट्यूट फॉर सोशल डेमोक्रेसी (आई.एस.डी.)

फ्लैट नंबर-110, नम्बरदार हाउस, 62-ए, लक्ष्मी मार्केट, मुनिरका, नई दिल्ली-110067, भारत

टेलीफोन : 091-011-26177904

ई-मेल : prakashan.isd@gmail.com / वेबसाइट : www.isd.net.in

प्रिंटर : सपना फोटोस्टेट अमोनिया प्रिंटस

केवल सीमित वितरण के लिए